पतझर

एक भाव-क्रांति

एक भाव-क्रान्ति

सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानन्दन पंत

विज्ञापन

प्रस्तुत संग्रह मे मेरी अनेक प्रकार की नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं। अधिकतर रचनाएँ भाव-प्रधान तथा युग बोध से प्रेरित है, कुछ विचार-प्रधान भी हैं, जिनमे मैंने आज के आत्म-कुंठित युग मे लाउड थिंकिग करना आवश्यक समझा है।

संग्रह का नाम 'पतझर : एक भाव-क्रांति' भी युग-संघर्ष ही का द्योतक है। भाव-क्रांति मेरी दृष्टि मे क्रांतियो की क्रांति है। आज की विषमताओ तथा जाति-वर्गगत विभेदो का उन्मूलन करने के लिए मनुष्य को रोटी के संघर्ष के साथ जन-मन मे घर किए विगत युगो के प्रेत-मूल्यो से भी लड़ना है। बाह्य क्रांति आंतर क्रांति के बिना अधूरी तथा एकांगी ही रहेगी—ऐसा मेरा आज के विश्व-जीवन तथा मन के यत्किंचित् संपर्क मे आने के कारण अनुमान है। मेरे विचार यदि तरुण-भावनाओ को अस्थियाँ प्रदान कर सकेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

इन मन स्वप्नो को मैं डा० रामविलास शर्मा को समर्पित कर रहा हूँ—अब के प्रयाग मे अनेक वर्षो के बाद उनसे मिलकर मुझे जो प्रसन्नता हुई उसकी सुखद स्मृति के रूप मे !

राजपाल एण्ड सज के स्वामी श्री विश्वनाथ जी अब की गर्मियों मे कुछ दिनो के लिए रानीखेत वेस्ट व्यू होटल मे ठहरे थे, जहाँ इस संग्रह की अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। वही इस संग्रह को प्रकाशित कर रहे है, उनके सहयोग के लिए मैं उन्हे हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

१८। बी ७, के० जी० मार्ग, सुमित्रानंदन पंत

इलाहाबाद

११ अगस्त, १९६८

डा० रामविलास शर्मा को

सस्नेह

रचना-क्रम

पतञ्जलि

पवनपुत्र

पतझर आया,
जन के मन मे छाया,
पतझर आया !
एक विश्व हो रहा विलय
निःसंशय,
काल-सर्प झाडता
जीर्ण केंचुल अब निर्भय !
पतझर आया,
क्रांति - दूत - सा भाया,
पतझर आया !

व्यक्ति ही नही
मेरे भीतर जग भी रहता,
एक समुद्र निरंतर बहता,—
भाव-तरगों में मथित हो
गरज - गरज कर कहता '
क्या सार्थकता नर जीवन की ?
भव-सागर या लघु जल कण की ?

क्या न डुबा सकता हूँ,
मैं निज कूल—
लाँघ सीमा
असीम बंधन की ?
क्या सार्थकता जग-जीवन की ?

मैं सहता, उद्वेलन सहता,
भव-सागर में कहता :
तब तो तुम भी नहीं रहोगे
तट-मर्यादा जो न सहोगे,—
बाँधे प्रिया धरित्री तुमको
निज अंचल में
थामे विधि करतल में !
भीतर-भीतर ऊब-डूब कर
तुम अंतर्मग्न सदा बहोगे,
लाँघ पुलिन
चित् चक्रज्वार में
उड़ असीम की बाँह गहोगे !
सार्थकता है यही तुम्हारी,
लघु जल कण की,
भव-जीवन की !

तुम असीम के अंश,
अंश जग-सिन्धु तुम्हारा,
भूमा ही की सार्थकता में
सार्थक अग-जग सारा !…
सृष्टि मुक्ति की कारा !

पतझर आया,
गृह मग वन मे अकुलाया,—
कौन सँदेशा लाया ?

अर्ध सत्य वह !—
शेष सत्य रे नव वसंत क्रम,—
पूर्ण मत्य के अंग उभय,
मिट गया सिंधु-भ्रम !

परिवर्तन विकास क्रम साधन,
परिवर्तन होता जिसमें
वह सत्य चिरंतन !

पतझर आया,
भव-कानन में सहज समाया,—
पवनपुत्र वह, हनुमत्,
सृष्टि-साँस-सा छाया !

चंद्रकला

चंद्रकला को उदित देख
नीलाभ गगन में
जाने कैसा होने लगता,
मेरे मन में !
मुझे चांद से अधिक
चाँद की कला सुहानी
उस शोभा-अंकुर में
विधि की कला समानी !

वह न भृकुटि, नख, असि ही,—
मन की नाव मनोहर,
प्राणों के मोहित सागर तिर
मुझे अनश्वर
शोभा के जग में पहुँचाती,—
जहाँ निरंतर
खुलते दृग सम्मुख
अनिन्द्य आनंद दिगंतर !

ओ रहस्य-अंगुलि,

नील कुसुम

नील फूल हरता मेरा मन !
वह क्या नयनों का प्रतीक ?—
स्मित दृष्टि गगन में जिसके
दृग खो जाते तत्क्षण
निर्निमेष बन ?

या वह नील प्रदीप ?
नींद का
वातावरण बनाता जो
स्वप्नों से उन्मन ?
जो कुछ भी हो,
नील फूल
हरता मेरा मन !

ना, वह चितवन नहीं,
नील आलोक भी नहीं,—
वह असीम का आकर्षण,
अनन्त आमन्त्रण,
पलक ठगे-से रहते,

पाकर एक झलक भर—
क्षण में सुधि-बुधि खो
तन्मय हो उठता अंतर !…

जगत् नहीं, मैं नहीं,
फूल भर रहता निःस्वर !—
निखिल चेतना को संवृत कर !

ना, वह फूल नहीं,
वह फूल नहीं,—
तुम आती मूर्त रूप धर
सिमट फूल में—
उसे निमित्त बनाकर !

मुझे ज्ञात, मा,
मात्र तुम्हीं हो,—
कुछ भी रहता नहीं
देह मन बुद्धि अहं जब
जग भी नहीं,—
तुम्हीं तब रहती हो
चिद् भास्वर,
उदय हृदय में,
निर्भर !

प्रिये,
तुम्हीं संपूर्ण बोध में
रहो निरंतर,
रूप अगोचर
नील कुसुम बन सुंदर
तन मन ले हर !

गिरि-विहगिनी

कितने रंगों के पंखों से हो तुम भूषित
ओ गिरि-विहगिनि, रश्मि-ज्वाल शोभा में वेष्टित,
रंग-कुवेर बनाया लगता तुमको विधि ने
सुरधनुओं की रत्न-तूलि से कर तन चित्रित !

वर्ण-चयन में या तुमने ही कला-दृष्टिमयि,
वर्णों का वैभव अपनाया दीप्त चमत्कृत ?—
यह जो भी हो, ओ निर्जन तरुवन की वासिनि,
तुम मेरे उर को प्रिय छवि से करती मोहित !

कहते, रंग-छटाएँ भावों की प्रतीक भर,
तुम धनाढ्य हो उर की संपद् में भी निश्चय,
नील हरित सित रक्त पीत धूमिल पाटल तन,—
नया कल्पना-लोक दृगों में खुलता छविमय !

विहगिनि, एकाकी मै, बैठा तरु-छाया में,
देख रहा हूँ ग्रीवा-भंगि तुम्हारी सुदर,
चपल पंख फड़का तुम, कुदक-फुदक डालो पर,
अस्फुट स्वर भरतीं, संभव, मुझसे मन मे डर !

तुम विश्वास कही कर सकती मेरा, रंगिणि,
समुद उतर आती नीचे मेरी गोदी पर,
मैं कितना पुलकित होता तुमसे बातें कर,
तुम्हे मधुर पुचकार, अंक भर, ले आता घर !

दाने तुम्हे चुगाता, मेवे मीज-मींज कर,
पानी पी आश्वस्त, सहज कंधे पर सिर धर,
जब तुम सो जाती, मै तब तक बैठा रहता
मौन प्रतीक्षा में, प्रतिक्षण रक्षा हित तत्पर !

तुम्हे पींजडे में क्या मै बंदिनी बनाता ?
तुम चाहे जब भी उड़कर वन मे जा सकती,—
कूक चहक जब तुम्हें बुलाता स्नेही सहचर
मधुर रंग संगिनियाँ बाट तुम्हारी तकती !

आत्म-तोष का मुक्त गीत गाती तुम तरु से
हर्ष ध्वनित लहरी में बँधता निखिल दिगंतर,
प्रात: फिर तुम आती, मैं उठ करता स्वागत,
मौन स्नेह का हम करते उपभोग परस्पर !

कभी गोद ही पर बैठी तुम गाने लगती,
शब्दों से भी अधिक अर्थ-गर्भित होते स्वर,
ओ वन-शोभा की प्रतिनिधि, प्रिय रंग-अप्सरे,
बिना कुछ कहे, सहज खोल देते हम अंतर !

उपचेतन के अवबोधों से परिचालित तुम
मन को करतीं सहज उड़ानों से नित हर्षित,
रोमिल ज्वाला के पंखों से चित्रित कर नभ,
अंग-भंगिमा से कर सुरधनु-सेतु विनिर्मित !

तुम मनाल डफिया की वंशज, खग-कुल दीपक,
सूर्य-रश्मियों के रँग अंगों में रुचि वितरित,—
जो भी हो,—निष्काम प्रेम पशु-पक्षी जग का
मनुज चेतना को अनजाने करता विकसित !

मूक प्रेम यह, मुखर प्रीति से कहीं गहनतर,—
होता आदि निगूढ़ हर्ष का उर को अनुभव,
भाव प्रबोधिनि, कभी अविक नर हो जब संस्कृत
गोदी में उड़, तुम उसके सँग खेलो संभव !

भाव और वस्तु

चपल कपोत तड़ित् गति से
द्रुत मँडरा सिर पर
मुझे घेरते
धूपछाँह के पर फड़का कर !
क्या जाने कहते मुझसे
अस्पष्ट कंठ-स्वर
रोमिल तन की ऊष्म गंध
नासा-पुट में भर !

मुझे सदेह उड़ा ले जाते
भाव-गगन में—,
भाव-बोध की छायाएँ
शत बरसा मन में !

क्षण स्तंभित,
मैं उनसे कहता नव युग प्रेरित—
"भाव नहीं चाहिए,
भाव जग को न अपेक्षित !

अब नव युग निर्माण
चल रहा भू-प्रांगण में,
हमें प्राविधिक बोध चाहिए,
पशु-बल तन में !
नव यथार्थ का ज्ञान,
सांख्यिकी, जन भू गणना,
हमें चाहिए नई योजना,
सफल मंत्रणा !
हमें अन्न गृह वस्त्र
जुटाने जनगण के हित,
प्रजा-तंत्र सँग
नया यंत्र-युग करना निर्मित !

"भावों से क्या होगा ?
वे हैं मनोवाष्प भर,
स्वप्न-नीड़वासी, नभचारी,
सुरधनु के पर !"

"जग अभाव से पीड़ित,
ठीक तुम्हारा अनुभव,"
बोले वन के हारित,
कानों में भर कलरव !

"भावों ही को तो
भू-जीवन में कर मूर्तित
तुम्हें वस्तु-जग का वैभव
करना संवर्धित !

"निखिल योजना, यंत्र तंत्र विधि

भाव मात्र है,—
भाव-शक्ति से शून्य लोकगण
रिक्त पात्र है !

"भू-शिल्पी बनने को
भावों का आराधन
तुम्हें चाहिए,—
जीवन कृषिफल, भाव अमृत-घन !

"भाव-हीन जन प्राण-हीन,
मन से जीवन-मृत,
जड़ प्रपंच यह,
भाव-शक्ति की सृष्टि अपरिमित !

"भाव-वस्तु नित
शब्द-अर्थ-से युक्त परस्पर—"
पारावत उड़ गए,
अभाव धरा-मन का हर !

आत्म-चेतन

लोग सोचते,
वृक्ष ऊर्ध्व करते आरोहण,
मुग्ध देखते नभ का आनन,
सूर्यमुखी पा दृष्टि,—
न भू जीवन के प्रति
रखते संवेदन !

नहीं जानते,
इनके कितने गहरे मूल
धरा जीवन में,—
बिना गहन पैठे
कोई ऊपर उठ सकता ?
जिसकी जड़ ही नहीं
कहीं वह वृक्ष पनपता ?

सच तो यह है,
ऊर्ध्व दृष्टि ही
गहरे धुस कर

सहज उतर सकती जन-मन मे !

मैं जीवन में सोचता रहा,
खोजता रहा, खोजता रहा,
कभी ऊर्ध्वमुख, फिर अंतर्मुख,
कभी वहिर्जग में भी वहा !
अब लगता,
मैं अपने ही को
खोजता रहा, व्यग्र निरंतर,
मेरा ही वहुमुख प्रसार था
वाहर, भीतर, ऊपर !

मुझे आत्म-विस्मृत कर
तुमने इंगित किया—
तुम्हें खोजूँ मैं
जड़ मे, जग मे,
वन मे, मग मे,
कटु कुरूप में
सुखद सुभग मे !

चितन-रत मन,—
बीता शैशव, बीता यौवन,
रुका नही मैं कही एक क्षण,—
वाहर भीतर जिया,
किया अविरत अन्वेषण !
सतत बोध-पथ में हो विकसित
होते रहे हृदय मे तुम
संचित, संयोजित !—

आया ऐसा भी तब शुभ क्षण
    विला गया सब उर का चिंतन,
छूट गई विस्मृति सहसा
    हो उठा आत्म-चेतन मन !

मैं ही फैला था अग-जग में,
मैं ही सिमट गया फिर
    अंत. केंद्रित, स्थित बन !

अब अपनापन ही अपनापन,
मैं, तुम या जग
बिलग नहीं थे हुए एक क्षण,
    सदा एक ही रहे प्राणपण !
ऊर्ध्व, गहन, व्यापक—
    यह प्रज्ञा का त्रिकोण भर !
केन्द्र बिन्दु तुम
    व्यक्त हो रहे
    बाहर भीतर
    नीचे ऊपर
    स्वयं निरंतर !

गिरि कोयल

विस्मय से अभिभूत,
प्राण हो उठते पुलकित,
हर्ष प्ररोहित रोम,
तुम्हारी ध्वनि सुन प्रेरित—

ओ गिरि कोकिल,
हृदय फाड तुम गाती स्वर भर,
'काफल पाको, काफल पाको'—
गुँजा दिगतर !

सचमुच, काफल नही
बनैले खटमिट्ठे फल,
वे प्रतीक रस-गुह्य—
जानता कवि अतस्तल !

भरा नहीं तो कैसे
शोभा के दिगंत स्मित
खुल पड़ते उर में
ध्वनि सुन आनंद उच्छ्वसित !

कैसा गिरि-परिवेश
जहाँ तुम रहती छिपकर,
नव वसंत दिङ्मुकुलित
वन ही निभृत रम्य घर ?
गंध मन्द समीर
व्यजन करती-सी प्रतिक्षण,—
वन मर्मर के क्षितिज
गूढ़ करते संभाषण ?
उषा नील डालों पर बैठी
हरती क्या मन ?
नीरव ज्योत्स्ना
गाने को देती आमंत्रण ?
रजत प्रसारों में उड़ती
शोभा में नि:स्वर
स्तंभित-सी सुनती वह क्या
मर्मस्पृक् प्रिय स्वर ?

कितने रंगों के प्रिय पंख
तुम्हारे सुंदर ?
धूपछाँह रत्नच्छाया के
रोमिल भास्वर !

कभी न देखा तुम्हें
सुना भर उन्मद गायन,
सूक्ष्म सृजन प्रेरणा स्रोत-सी
तुम चिर गोपन !

तरुवन के नभ में
अरूप पावक की-सी घन
उर ज्वाला से मुकुलित करती
मधु के दिशि-क्षण !
प्राणों की सौन्दर्य भूमि में
पली असशय
तुम जीवन आनंद छंद की
प्रतिनिधि अक्षय !

यही सहज आनद
प्रवाहित मुझमें प्रतिपल,
हम स्फुलिंग एक ही चेतना के
कवि-कोयल !
इसीलिए करतीं तुम
जन-मन को आकर्षित,
एक मर्म उल्लास
विश्व मे मौन समाहित !

जग मे ऐसी स्थितियाँ भी
जो उपजाती भ्रम,

राग द्वेष, रुज्, आधि व्याधि,
व्यापक सुख दुख क्रम !

मैं अपने को पाता
उन सब से संबंधित
सत्य ज्योति, आनंद प्रीति से
जो सत्-प्रेरित !

विश्व-चेतना प्रमुख,
व्यक्तिगत अहं गौण निज,
हमें चाहिए द्रष्टा स्रष्टा
भू प्रति अर्पित !
सुन उन्मेषित गीत
नहीं मन में अब संशय
भीतर ही आनंद-स्रोत—
जीवन हो तन्मय !

मानव सौन्दर्य

किस नव श्री सुषमा-प्रतिमा का
शिल्पी मुझे बनाने, कविते,
स्वप्न नीड़ तुम रचतीं
गोपन मेरे मन मे !
आत्म-मुक्त हो गाती तुम
अपलक उडान भर
हंस-पख फैला असीम
सौन्दर्य-गगन में !

कलात्मिका प्रेरणा सृष्टि तुम
अर्धदृश्य कमनीय कल्पना की काया में,
कँपती भावों की
रत्नस्मित शोभा अतुलित
मनोव्योम में लिपटी
तनु सुरधनु छाया मे !
अंतर्मन के अंतरिक्ष में मुझे उड़ातीं
चिदाकाश मे खोजूं मैं सौन्दर्य अपरिमित,—
रश्मिज्वाल चैतन्य द्रव्य से

सुंदरता की भाव-मूर्ति
नव करूँ विनिर्मित !

आत्मा के अति अतल अकूल
सिन्धु में मज्जित
खोजूँ मैं आनंद विभव
अनिमेष समाचित,
रत्नाकर-संपद् की
चिन्माणिक ज्वाला में
भाव-बोध को करूँ
चेतना-अचि प्रदीपित !
विश्व चेतना क्षितिजों में
विचरूँ दिग् विस्तृत,
छायालोकों की
वैचित्र्य विभा कर गुम्फित—
बुनूँ तुम्हारे लिए
वसन जीवन-शोभा के
अभिनव मूल्यों के तानेबानों से भूषित !

तड़ित्-प्रकंपित प्राणों के
उन्मद मेघों संग
भटका करता मैं
सुरधनु आकांक्षा पावक में सतरंजित,
भावावेगों में,
अनुभूति जनित सत्यों में
शोभा का अंतर कर सकूँ
भाव-लय अंकन !

आध्यात्मिक स्रोतों का
अक्षय अमृत पान कर
उतर अंत में आता मैं
जन-प्राण धरा पर .—
मनुज-हृदय ही का सौन्दर्य
मुझे सर्वाधिक
भाता, जो नवनीत सत्य का
चिर श्रेयस्कर !

मैं भू - जीवन का कवि,
मानव-उर-शोभा में
गढता मूर्ति विराट्
विश्व संस्कृति की प्रतिक्षण,—
संयोजित कर
भाव-विभव वैचित्र्य तुम्हारा
बिम्बित हो जिसमे
अनिन्द्य भावी का आनन !

प्रतिभे,
निज जीवन मन के
रस अनुभव क्षण मैं
प्रिय चरणो पर करता रहता
प्रणत समर्पित,
तुम्ही सतत
मेरे तुतले रचना-कौशल मे
करती रहती मुझे
नवोन्मेषो से प्रेरित !

तारा चिन्तन

कैसा विस्मयकर लगता
पर्वत प्रदेश का प्रिय तारापथ
कहीं न कोई जिसका इति अथ,—
निर्निमेष-दृग् फैला ऊपर
क्षौम-मसृण हो नील चँदोवा
कढ़ा मनोहर !

लिपटी-सी द्राक्षा लतिकाएँ
मधु रस प्लावित
घने नीलिमा के बाड़े में विस्तृत—
अगणित ताराएँ
मधु छत्ते पर-सी पुंजित
करती दृष्टि चमत्कृत !
अंधकार के झीने अवगुंठन से आवृत
करती वे मन को चिन्तन में मज्जित
क्या रहस्य दिग्व्याप्त,
गुह्य घन अंधकार का
प्रश्न पूछती हों अपने से विस्मित !

ऐसा नही कि

तत्त्व-बोध की सूर्य-ज्योति मे
उर को कर अवगाहित,
तम की सत्ता को
अभाव की सत्ता बतला,
कह मिथ्या, अज्ञान जनित भ्रम,—
करती पूर्ण उपेक्षित !
क्या उपयोग तमस् का
भू-जीवन रचना में ?
निज सहस्र नेत्रों से झाँक हृदय में
तारा
करती मानस-मंथन—
कौन ज्योति-तम से भी परे,
जगत् का जो
अंतर-पथ से करती सचालन ?
अपरिमेय उस सृजन-शक्ति के
ज्योति तमस् निःसंशय ही
दाएँ बाएँ कर,—
समाधान सभव न
एक को सत्य
दूसरे को मिथ्या बतलाकर !

मात्र ज्योति से—
द्रष्टा भर जो—
यह विराट् ब्रह्मांड न संभव सर्जित,—
उदित अस्त होते रवि-शशि,
विस्तृत तारापथ
चिर असीम स्वर-लय संगति मे गुफित !

षड् ऋतुएँ करतीं नर्तन,
सौन्दर्य मधुरिमा
प्रीति प्रहर्ष धरा पर करते विचरण,
स्वर्ग-मर्त्य को
इंद्रधनुष स्मित स्वप्न-सेतु में
सदा बाँधता ही रहता मानव मन !

चित् प्रकाश से भी रे
जड़ तम अति रहस्यमय,
बोध-दृष्टि से
तम ही का अन्वेषण सार्थक निश्चय !
मानवता का नींव
धरा पर कर निर्मित
चरितार्थ हमें यदि करना
जन-भू जीवन !
जाग्रत् तारागण
आवरण उठा तम-मुख से
इंगित करती हों ज्यों सत्य प्रयोजन, —
बोध प्राप्त करने के सँग
यदि रहना जगती में सुख से
तो ज्योति तमस् का
भू-जीवन में करें सांग संयोजन !

ज्योति तमस् के,
जड़ चेतन के भेद मिटें
जन भू मंगल हित
बँधें उभय ही
भर प्रगाढ़ आलिंगन !

सत्य परे नित ज्योति-तमस् से
प्रीति पाश में बाँधे वह जड़ चेतन !
एकांगी भौतिकता
आध्यात्मिकता दोनों,—

ज्योति-कर लिखित
अर्ध रात्रि के नीरव तम मे
ध्यान-मौन नभ में
तारापथ दर्शन !

याथातथ्य

ओ ऊपर के सत्य,
अधूरे हो तुम निश्चित,
भू का सत्य करेगा
तुमको पूरा विकसित !

तुम अरूप,
मांसल अंगों में होगे मूर्तित,
रज-स्पर्शों से
उर-तंत्री होगी रस-झंकृत !

काल हीन तुम, एक रूप,
ऊपर निष्क्रिय स्थित,
क्षण के पग धर
तुम इतिहास बनोगे जीवित !
प्राणों की आकांक्षा
तुममें गहराई भर
सुख दुख वेगों से
पुलकित कर देगी अंतर !

भव चिंतन की बोध-रश्मि से
हो उद्दीपित
पाओगे चित् नभ को तुम
श्यामल सुरधनु स्मित !

मनुज हृदय के प्रेम स्रोत में
कर अवगाहन
तुम स्वीकार करोगे
मर्त्य दु:ख-सुख बंधन !

सीमा के भीतर
असीम बन कर नि:संशय
सार्थक होगा
देश काल का जीवन सुखमय !
जन-भू के प्रांगण मे
तुम होकर संस्थापित
भव विकास-क्रम में
होगे युग-युग संवर्धित !

नित नव परिचय पा निज
उर होगा सुख-विस्मित,
शुद्ध चेतना होगी
श्री सुषमा से मंडित !

तुम एकाकी रहते थे
नभ अंतस्तल में—
भू ने तुमको बाँध लिया
निज रज-अंचल में !

आओ, भू पर नीड़ बसाओ,
सिमटा निज पर,
ओ असंग, सेओ स्व-डिम्ब,
नव नव स्व-रूप धर !

भाव-बोध पखों में उड,
पा जग का परिचय,
कवि के सँग, भू-जीवन,
रचना में हो तन्मय !

गीत दूत

खग रह रह तरु वन मे गाता !
मुक्त उल्लसित दूत प्रकृति का
मेरे मन प्राणो को भाता !

छिपा गहन गिरि-वन के भीतर
परिचित-से लगते उसके स्वर,--
ऐसा ही तो मेरा अतर,—
निभृत फूट पड़ती स्वर लहरी
गोपन हम दोनो में नाता !

धूपछाँह रहले कानन मे
आँधी पानी आते क्षण मे,—
दाना चुगने को निर्जन में
खँटना पडता,—भाव-मत्त खग
उर-प्रहर्ष भू पर बरसाता !

विटप क्रोड मे नीड़ बसा कर
डिम्बो को सेता सुख-नि:स्वर,

चुन चुन कन, शावक मुँह में भर,
शिशु-खग को उकसा
अनंत उर मे उड़ान भरना सिखलाता !

यदि केवल लेना ही जग में,
देना तनिक न जन-भू मग में,
स्वार्थ-समर ही तब पग पग में,—
अपने को अतिक्रम कर जीना
नर वरेण्य को सदा सुहाता !
यदि न सुकृत ही शेष धरा पर
तब फिर कहाँ जगत् में ईश्वर ?
निज हित मे रत सकल चराचर—
औरों के हित भी रहता जो
वही मुक्ति निज-पर से पाता !
जीवन मे आते संकट क्षण,
राग द्वेष करते उर मे व्रण,
दुःस्मृति से भर आते लोचन,—
पर जब ज्वार हृदय मे उठता
सुख दुख कूल बहा ले जाता !
खग रह-रह तरु-वन में गाता !

कवि कोकिल

जन्मजात कवि तुम निसर्ग प्रिय, अयि गिरि कोयल,
गाती हो स्वच्छंद,—हृदय तन्मय उड़ेल कर,
स्वर-मोहित-सी लगती घाटी, दिशि रोमांचित,
श्रवण उठा सुनते वन-पशु खोहों में नि:स्वर!

प्रतिध्वनित होती स्वर-लहरी गिरि शिखरों से,
भू विराट्-वीणा सी बज उठती स्वर-झंकृत,
झूम-झूम नाचते मुग्ध तरु-लता ताल पर
चीड, बाँज, वन देवदारु, सिर हिला अतंद्रित!

सारा वन-प्रांतर ही हो उठता आह्लादित,
जड़-निद्रा तज, जग उठते विस्मय-हत पर्वत,
नव प्रभात-छवि-स्नात, मर्म-ध्वनि से उन्मेषित
प्रकृति चेतना लगती नव शोभा मे जाग्रत्!

विजन क्रोड़ में जन्म, पली तुम, पिक, वन परभृत,
पर अंत:संस्कार भला कब होते विस्मृत ?
जाति विविधता सँग विशिष्टता भी संरक्षित,
विजय कूक भर प्रथम, उड़ीं तुम नभ में विस्तृत !

जिन द्रव्यों से विविध वस्तुएँ बनी विश्व की
उनसे पृथक्—विशिष्ट द्रव्य की हो तुम निश्चित,
कहीं गहन, उन्नत, व्यापक, ये उर-पावक स्वर—
नहीं भला क्या होता जग-जग गीति-समाधित !

विहग और भी चहका करते गिरि प्रदेश में,—
आभिजात्य जो गरिमा मुग्ध तुम्हारे स्वर में,—
उर-मधुरिमा—नहीं संभव अन्यत्र कहीं वह,
झंकृत हो उठती सुर-वीणा-सी अंतर में !

कोकिल, क्या कवि कर्म ? बहिर्मुखता में खोए
जीवन को अंतर-स्वर-लय में करना केन्द्रित,
मनुज-हृदय फिर छेड़ सके धुन अंत.प्रेरित,
जिसमें जग के भेद-भाव हो जायँ निमज्जित !

देख रहा, तरु-जग, वन-मृग, गिरि-शृंग, गगन भी
आज एक सर्वात्म-भावना में-से छंदित,
छूता चेतनता की सूर्य-गहनताओं को
गीत तुम्हारा, सृष्टि सत्य मुक्त कर उद्घाटित !

इस स्वर्गिक आह्लाद, अमर आलोक-स्पर्श को
नव जन-भू जीवन में होता श्री-संयोजित,
मूर्त मानुषी-सत्य न वह जब तक बन जाए—
भू-रत हृदय नहीं उसको कर सकता स्वीकृत!

ओ कवि कोयल, सृजन चेतना जग-जीवन की
कलात्मिका, अग जग रहस्य-द्रष्टा भी निश्चित,
ज्ञात उसे, सदसत्, आलोक-तमस् को कैसे
सृष्टि-पूर्णता में करना सपूर्ण नियोजित।

श्री शोभा आनद भावना मे प्रेरित हो
शकुनि, गीत-कवि बनना सिद्धि महत् नि सशय,
पर, जो स्रोत निखिल ऐश्वर्यों की त्रिभुवन में
उसमें रहना चाहूँगा मैं अतस्तन्मय!

विश्व विवर्तन

कैसी पद-चापें सुनता मैं
अस्फुट, निःस्वर,
कौन न जाने चलता
जन मन की धरती पर !

तारे भी कुछ गोपन-सा
करते सम्भाषण,
रोमांचित-सा फिरता
उन्मद गंध समीरण !

भूधर-पग धर चलता
दुर्जय विश्व विवर्तन,—
प्राणों के उपचेतन—
सागर में उद्वेलन !

स्वप्न-प्ररोहित नव शोभा से
जन-भू प्रांगण,
आशाऽऽकांक्षा से अपलक
जनगण के लोचन !

मौन प्रतीक्षा में रत
आज युवक-युवतीजन—
नव यौवन को देना युग
जन-भू का शासन !

उनको ही नव युग जीवन
करना संयोजित
निज इच्छाओं के अनुरूप
उसे कर निर्मित !

जीर्ण शीर्ण कर ध्वस्त,
भेद गत युग के मज्जित,
नयी एकता करनी
मानव जग में स्थापित !

विश्व सभ्यता का मुख करना
नव रुचि संस्कृत,
भू-जीवन के प्रति कर
तन मन पूर्ण समर्पित !

भाव-प्रवण मेरा अंतर
करता आवाहन,
आओ हे नव मानव,
करो धरा पर विचरण!

कर्म प्रेरणा के अचल मे
बाँधो उर्वर
जीवन का आनंद,—
धरा मुख हो दिक्-सुंदर!

नये रक्त मे करो
सभ्यता का संचालन,
समता पूर्वक कर
सुख सुविधाओं का वितरण।

नया मूल्य मानव आत्मा को
देना निश्चय,
जन-भू युवको,
आस्थावान् बनो, दृढ़, निर्भय!

गीत प्रेरणा

मेरा मन गाने को करता,
नही जानता क्या गाएगा,
कौन भाव अंतरतम मे जग
मेरे प्राणो में छाएगा!
पौ फटने पर निभृत क्षितिज
ज्यो हो उठता स्वर्णाभा मंडित,
वैसे ही उर बोध-विद्रवित
हो उठता नि.स्वर उन्मेषित!

गोपन स्वर-सगति में जाने
उर-तत्री कैसे बँध जाती,
सरसी में लहरी-सी कँप
झंकार स्वत. ही ज्यों उठ आती!

गाना मेरे एकाकी प्राणो के
जीवन का मधु-स्पदन,
वे अपना प्रच्छन्न प्रहर्ष
प्रकट करते गा-गा कर प्रतिक्षण!

मेरी आकांक्षा का पावक
गाने ही से होता शीतल,
वह अतृप्त रह मुझे तपाता,
अंतर को रखता रस विह्वल !

भू-संघर्षण भी मन में छन
गीतों में होता प्रतिध्वनित,
झंझा के झोंके करते जब
हृदय-सिन्धु को निर्मम मंथित !

कहीं खड़ा चैतन्य अडिग
पर्वत-सा, देता मुझे प्रबोधन,
युग विवर्त के मुख से सहसा
उठ जाता क्षण भर को गुंठन !

गाने का महत्त्व मेरे हित
जाग्रत् रखता मुझको मन से,
गुह्य सूत्र में बाँध प्राण,
कर देता मुक्त जगत् जीवन से !

कभी सूत्र बन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर
अंतर को कर देता तन्मय,
जग जीवन से परे चेतना
कोई उर को छूती निश्चय !

अवचनीय रस-गीत-बोध
मेरे मानस को करता प्रेरित,
तब मैं नहीं, और ही कोई
होता स्वर्गिक गायक अविदित !

वयः प्राप्त अंगों में फिर से
बहने लगता अतर्यौवन,
भावी मानव चिद् वैभव का
बनता चेतस् तद्गत दर्पण !

सृजन-नृत्य करते प्राणों में
श्री शोभा आनंद चिरंतन,
अपने को अतिक्रम कर गाता
मन नव युग-जीवन के गायन !

भाव शक्ति

मेघों को जोता मैंने
धूमिल क्षितिजों पर,
स्वप्न बीज बो,
अश्रु वारि से सींचा झर झर !

इंद्रधनुष उग आए उनमें
जब दिग्-विस्तृत,
कहा जनों से—
सेतु रचे मैंने सतरंजित !

चाहो, पार करो इनसे
दुस्तर भव सागर,
मुझको पागल समझ,
विहँस, मुख फेर चले नर !

मैंने गहरा जोता अबके,
पावक बोया,
प्राणों का रस घोल,
उन्हें जी खोल भिगोया !

कड़क उठे जब शक्ति-मत्त
बादल भर गर्जन,
चौंके लोग, बदलता देख
दिशा भ्रू आनन !

किया घनों ने निज को
जब दिगत विज्ञापित
ध्यान जनों का गया—
किया नभ ने क्या घोषित !
फिर भी आस्थाहीन हृदय मन
रहे सशंकित,
धैर्य घनो का डिगा,
गगन से विद्युत् दर्पित
वज्रपात द्रुत हुआ,—
धरा डोली, गिरि स्तंभित !

अब सचेत, लोगो ने सोचा
मन में खा भय,
उमड़ घुमड़ने वाले
वाष्पो में भी निश्चय
महत् शक्ति असि छिपी,—
ध्वस्त कर सकती क्षण में
जब चाहे, तरु वन पर्वत,
जन भू को, रण में !

बृहद् भावना भूमि
मनुज ने की जब स्वीकृत
बोध-शिखर से टकराए घन,
मन में हर्षित !

उठे दमित उपचेतन
खोहों में जग प्रतिपल,
छुआ चेतना आरोहों को
गात समुज्ज्वल—

द्रवित क्रुद्ध-उर,
बरसे धरती पर धाराधर
जन-भू को कर शस्यश्यामला,
जीवन-उर्वर !

मुक्ता-लड़ियों से अब
जन-उर अंबर शोभित,
भाव-विभव से
जन भू का जीवन संपोषित !

बुद्धि मात्र ऋण-पथ दर्शक—
भावना शक्ति-जव,
उच्च चेतना ही से
भव-रूपांतर संभव !

सोपान

क्या मेरा कर्तव्य समापन ?
नयी पीढियो को कर दूँ
कवि-कर्म समर्पण ?

इसमे मति-भ्रम निश्चय !
मेरा कार्य सदा मेरा ही,
मुझे न इसमे संशय,
नयी पीढ़ियाँ
इसे न कर पाएँगी—
तनिक न विस्मय !

उनके सम्मुख खुला क्षितिज नव
करता उन्हे निमंत्रित,
वे स्वीकार करें युग-आग्रह,
हों जग मे अभिनंदित !

जग विकास-क्रम मे रे अविरत,—
उस विकास का एक चरण मैं,

एक चरण वे निश्चित,
अपने ही युग की गतिविधि से
हो सकते हम प्रेरित—
जिसको निज कृति में कर अंकित,
सत्य-रूप ही को करते हम विम्बित !

व्यक्ति विश्व-जीवन
अनादि से रहे परस्पर निर्भर,
जीवन सत्य अखंड,
पूर्ण वह प्रति पग पर,
प्रति क्षण पर !

मैं अपने युग का प्रतिनिधि हूँ
जग-जीवन प्रति अर्पित,
काल-बोध पीढ़ियाँ मुझे
कर सकतीं रंच न खंडित !

मैं सोपान अनंत श्रेणि का,
अपने कंधों पर धर
पार पीढ़ियों को पहुँचाता—
काल-बोध अति दुस्तर !

विज्ञान और कविता

कभी सोचता, इस विराट् वैज्ञानिक युग में
कवि की हृत्तंत्री का क्या उपयोग रह गया !
जहाँ आज सिद्धों ही के-से चमत्कार नित
वैज्ञानिक दिखला कर बुद्धि चमत्कृत करते !

आज रेडियो, फोन, दूरदर्शन के अचरज
सब बासी पड़ गए,—गरुड-से वायुयान भी !
विकसित हो यात्रिकी असंभव को भी संभव
कर सकती, अब बदल असंभव की परिभाषा !

अब विद्युत् मस्तिष्क हो चुके पैदा भू पर
कंप्यूटर,—सब कार्य कर सकेंगे मनुजों का !
विश्व संवहन के साधन बन वे भविष्य में
भेजेंगे संदेश, दिशाओं से बातें कर !
दूरभाष का भी संवाद तुरत ग्रहण कर
उसे आपको सूचित कर देंगे, आने पर,

और अनेक जटिल कार्यों को कुशल संगणक
क्षण में कर देंगे,—यांत्रिक-मस्तिष्क मनुज के !

यही नहीं, प्लास्टिक युग भी अब गजब ढा रहा !
कुछ दैनिक वस्तुएँ, खिलौने ही प्लास्टिक के
अब न आपका मन मोहेंगे,—बहुत शीघ्र ही
प्लास्टिक के घर भी शोभा देंगे पृथ्वी पर।
वृहत्, नींव से छत तक भवन खड़े प्लास्टिक के
सभी लोक सुख सुविधाओं की पूर्ति करेंगे,—
शीत ग्रीष्म वर्षा—ऋतु-धर्मों प्रति अनुकूलित !

सिंधु नील से संचित कर द्रुत तड़ित् शक्ति जब
बदल रूप ही देंगे जीवन का वैज्ञानिक !
चंद्रलोक में पहुँच, शक्ति का उत्पादन कर,
वितरित उसे करेंगे जन-भू के मंगल हित !

अब समुद्रजल-तल पर सप्ताहांत बिताने
आप सहज ही जा सकते, सब खाने पीने,
लिखने-पढ़ने की सुविधा पा अतल गर्भ में !
अभी जैव-विज्ञान नवीन प्रयोगों से निज
नयी जीव जातियाँ बनाने में भी रत है :
भ्रूणावस्था के अणु को विद्युत्-गर्भित कर
महाशक्तिशाली, मस्तिष्क रहित, दैत्यों को
स्थूल-कर्म संपादन के हित वह गढ़ सकता !
कालस्पन्द जगत् में तो प्रतिदिन ही अद्भुत
अभिनव आविष्कार विविध होते रहते हैं !

और शांति युग कामी जन-भू रचना के हित
जब प्रयुक्त होगी अणु-शक्ति,—धरा-जीवन का
मुख ही तब पहचान न पाएगा युग मानव !
नये नये परिवेशों, अभ्यासों मे ढलकर
हृदय प्राण मन सभी बदल जाएँगे जन के !
बहिर्विश्व रचना से यंत्र-सदृश चालित हो
बहिर्भूत मानव का मन सब विगत युगों के
भावों, बोधो, मूल्यों का ऋण भुला, अजाने
इंद्रिय-संवेदन के स्तर पर उतर जिएगा !

ज्योति, प्रीति, आनद, सूक्ष्म सौदर्य-बोध—जो
समझी जाती अब अंतर्मन की विभूतियाँ,
तब वे विद्युत्-गति सचालित भू जीवन के
स्थूल बाह्य अभ्यासो की जड दृश्यपटी में
परिणत होकर, इंद्रिय-बोध कहे जाएँगे ।
ऐसी स्थिति मे झींगुर-सी हृत्तंत्री लेकर
कवि क्या गाएगा ? बन कर सौदर्योपासक !
कौन सुनेगा उसकी तूती तब ? यंत्रो के
कोलाहल से संचालित दिङ्मूढ़ विश्व में !

कही हृदय के भीतर उठता प्रतिरोधी स्वर !—
सावधान ! नर बहिर्जगत् जीवन से चालित
प्रकृति-यत्र बन नही रह सकेगा सदैव ही !
उसे खोजना होगा अपनी आत्मा का मुख !
आत्मा—जिसके ही आनंद-सृजन लीला की
निखिल सृष्टि शोभा-प्रतीक यह : अंत.स्थित हो
संचालित करना होगा नर को जग-जीवन !

यह भी सच है : सीमित है यह विश्व, सभी कुछ
परिमित इसमें, अक्षय नहीं कहीं भी कुछ भी !
कभी एक दिन इसकी सारी द्रव्य शक्ति
चुक सकती क्षय हो ! रिक्त जगत् में तब आत्मा का
शून्य अस्थिपंजरवत् शेष रहेगा मानव !
हतप्रभ : महत् पाप से पीड़ित आत्म-नाश के !

अब भी कवि की हृत्तन्त्री की सार्थकता है !
चेत सके मानव उसकी स्वर-संगति में बँध !—
उसकी लय में तन्मय हो, पा सके स्वयं को !
मनुज-सत्य ही निखिल जागतिक-सत्य असंशय !

स्फुरित हो रहा मनोदृगों के सम्मुख वह युग
जब भौतिक सुविधा सम्पन्न प्रसन्न धरा पर
पूर्ण सांस्कृतिक शोभा में कुसुमित नव मानव
विचरेगा श्री-सौम्य, कला-वैभव से सुरभित,—
मूर्तिमान् अध्यात्म तत्त्व सा,—विस्मित भूचर
समझ न पायेंगे, यह मनुज, देव या ईश्वर !
सार्थक होगी यान्त्रिकता नर-चरणों पर नत !

निसर्ग वैभव

कितनी सुदरता बिखरी
प्राकृतिक जगत् में, ईश्वर,
टपक रही गिरि-शिखरों से झर,
लोट रही घाटी में
लिपटी धूप छाँह मे नि:स्वर !

अनिल-स्पर्श से पुलकित तृण दल,
बहती सीमाहीन
श्लक्षण सगीत स्रोत-सी
अहरह वन-भू मर्मर !

फूलों की ज्वालाएँ
आँखें करती शीतल,
मुकुल-अधर-मधु पीते
गुजन भर मधुकर दल !
तितली उड़ती,
दूर, कही पल्लव-छाया मे
रुक-रुक गाती वन-प्रिय कोयल !

देवदारु के ऊर्ध्व शृंग
लगते जिज्ञासा-मथित,
नीचे फूलों की घाटी
प्रतिपग दृग करती मोहित !

लेटी नीली छायाएँ
कृश रवि किरणों में गुंफित,
दुरारोह भारी ढालें,
निश्चल तरंग-सी स्तंभित !
स्वर्ण-भाल गिरि सर्वप्रथम
करते ऊषा अभिनंदन,
साँझ यहीं सोती छिप,
निर्जन में कर सन्ध्यावंदन !
अपलक तारापथ शशिमुख का
बनता लेखा-दर्पण,
यहीं शैल-कंधों पर सोया
जगता गंध-समीरण !

सद्यःस्फुट सौंदर्य राशि
सम्मोहन भरती मन में,
कितना विस्मयकर वैचित्र्य
भरा पर्वत-जीवन में !

[illegible] फल,
[illegible] कोयल,
[illegible] रहते प्रसन्न
[illegible] आँगन में !

स्वाभाविक,

यदि मुझे याद आता

ईश्वर इस क्षण मे !

जड जग इतना सुदर जब

चेतन जग मे क्या कारण

रहता अहरह जो

विपण्ण जीवन मन का संघर्षण ?

मनुज प्रकृति का करना फिर

नव विश्लेषण, सश्लेषण,—

ईश्वर का प्रतिनिधि नर,

अभिशापित हो उसका जीवन ?

लगता, अपनी क्षुद्र अहंता ही मे

सीमित, केन्द्रित,

छिन्न हो गया विश्व चेतना से

मानव मन निश्चित !

सूख गया आनद स्रोत

वन जीवन जिससे प्रेरित,

वहिर्भ्रांत मानव को फिर

होना अंत सयोजित !

सरिता

बहती जाओ, बहती,
फेनिल जीवन-धारा,
बंधन नहीं, विमुक्ति
तुम्हारे लिए किनारा !

तुम गिरि के पाषाण हृदय में
फूटी निर्भय,
यह अपने ही में रहस्य
सरिते, निःसंशय ।

अब तक तुम गिरि के
अन्तर ही में थी संचित,—
गति विहीन, बंदिनी नहीं,—
पर थी सुरक्षित !

अब स्वतंत्रता का तुम
प्रतिक्षण मूल्य चुकाओ,
उठो, गिरो, गरजो,
पर आगे बढ़ती जाओ !

गति-विधि स्वय सँभालो,
घूमो, मुड़ो निरंतर,
जैसी भूमि मिले,
पथ बदलो, मत खो अवसर !
यह कैशोर्य तुम्हारा,
उछलो, कूदो, गाओ,
फूलो सँग हँस खेलो,
कूलों मे विलमाओ !

नव जल भार समेट
पीन छवि अंगो मे भर
युवती बन तुम भेंटोगी
कुजों को निःस्वर !

धूपछाँह की वीथी मे
विचरोगी निर्जन,
संभव, विस्मय वहाँ
प्रतीक्षा-रत हो गोपन !

नहीं जानता कोई
विधि को कब क्या स्वीकृत,
उसकी देन अपार—
घटित हो सकता अघटित !

राजमराल मिथुन
जल में तिरते आजाएँ,
पंख खोल, चंचल लहरों को
गले लगाएँ !
उनकी प्रिय गति, ग्रीवाभंगी
तुमको भाए,
चंद्रलोक की शोभा
उतर धरा पर आए !

शनैः प्रौढ़ तुम
समतल पर विचरोगी विस्तृत,
ताराओं की छाँह
हार-सी उर में शोभित !

गात वेग, गति भी न रहेगी
अब ऋजु-कुंचित
उच्च उभार बहेंगे जल में
दूने बिम्बित !

सूर्य चद्र भी प्यास बुझाने
उतरेंगे नित
ज्वाला की जिह्वाएँ जल में
डाल प्रलंबित !

पार लगाओगी तुम
कितनी नाव निरतर,
सहृदयता का यही धर्म,
गिरिवाले, दुस्तर !

अभी देखना मत
सागर सगम के सपने,
हमें नियति को
वश में रखना होता अपने !
बहने ही में भव-गति,
सघर्षण ही जीवन,
सिंधु-शांति निर्मम
जीवन-गति-इति की दर्पण !

गाओ, बहती जाओ,
हँसमुख जीवन-धारा,
गाने ही का
हम दोनों को रहे सहारा !

जीवन-गुण आत्मा मे, आत्मा का गुण
जीवन मे तब परिणत होगा अविकृत!

भाव-शून्य उर वस्तु-जगत् मे खोया
घातक नर हित; वस्तु-जगत्-सुख वंचित
मात्र भावना केन्द्रित जन-अंतर भी
पातक जन-भू जीवन के श्रेयस् हित!
भाव-वस्तु में सामंजस्य परस्पर
सतत अपेक्षित : भव-विकास-गति-क्रम में
बहिरंतर सित संयोजन हो स्थापित,—
मनुज प्रेम से प्रेरित हो, प्रभु आश्रित!

आत्म प्रतारण

मैंने सुना घनों को भरते
तडित्-दंभ दिग्-गर्जन,
देखा, फेन-उच्छ्वसित सहस्र फन
सागर का उद्वेलन!

देखे, ऊर्ध्व भयावह
आरोहों के दुर्गम भूधर,
गहरी दरियों में सोया
घन अंधकार दृग्-दुस्तर !

अति निर्दय वैधव्य
चीरता नव मुग्धा उर कातर,
सुत-विछोह में शोक-पीन
जननी को मूर्छित निःस्वर !

क्रोध-अंध नर देखे लेना,
निज प्रतिशोध भयंकर,

उन्नयन

मन को जो होते रहस्यमय अनुभव
अभिव्यक्त करना क्या संभव उनको ?
वे भावी मानव जीवन वैभव के
दर्पण,—जिसमे बिम्बित आत्मा का मुख !
समदिग् जीवन बहिर्मुखी, सामूहिक :
ऊर्ध्व सचरण आंतर-गुण का द्योतक :
ऊर्ध्व मनुज गुण को समदिग् जीवन में
अभिव्यक्ति पाना,—व्यापक दिङ् मूर्तित !

कभी प्राण जग, छू अंतःशिखरों को
हो उठते शत सुरधनु आभा दीपित,
मात्र उसे कल्पना समझ कवि मन की
हृदय नहीं अब अस्वीकृत कर पाता !
तब मैं युग की वास्तवता में मन के
ऊर्ध्व-गमन के कारण खोजा करता,—
निश्चय, मानव-जीवन क्षर भौतिकता
यांत्रिकता के पाटों से अब मर्दित !

भौतिकता की नींव डाल दिग विस्तृत
संस्कृति का प्रासाद उठाना जन को
स्वर्ग विचुंबी !—जहाँ मनुज की आत्मा
निर्भय, मुक्त निवास कर सके सुख से !
ऐसा न हो कि भौतिकता की रज मे
मनुज हृदय दबकर पत्थर बन जाए,—
मानवीय भव-सत्य निखिल नि:संशय,
सभी ज्ञान-विज्ञान मनुज श्रेयस् हित
अथक खोज मे रत, निष्ठा-आस्था-युत
बहिरंतर भुवनों में पैठ 'गहनतर !

दोनो ही लोको को संयोजित कर
जन संभव, भू-लोक रच सकें, जिसमें
शिव से शिवतर, सुंदर से सुंदरतर
जग जीवन ऐश्वर्य हो सके कुसुमित !
मनुज, सत्य से महत् सत्य के प्रति नित
बढ़कर, सुख दुख, जड़ चेतन द्वंद्वो को
सहज समन्वित कर, विकास-क्रम का पथ
निर्विरोध कर सकें—सृजन-सुख मे लय !

इसीलिए, संभव, मेरा कवि-अंतर
भावी वैभव-शिखरों से टकराता !

शिवोऽहम्

मैं था अतिथि मित्र के घर तब, और मित्र थे
सुख वैभव संपन्न ! रात दिन चहल पहल
रहती थी घर में : पत्नी से, बच्चों से
भरा-पुरा गृह,—उत्सव होते रहते प्रायः !

वहाँ एक कमरे में दुबका बैठा रहता
एक किशोर अकेला : ग्यारह बारह की हो
उम्र : देख कर मुझे टहलता आँगन में
वह खिड़की से झुक कर प्रणाम करता था प्रतिदिन !

मैंने उससे पूछा, तुम यों बैठ अकेले
कमरे में क्या करते रहते ? क्यों न और
बच्चों संग खेला कूदा करते ? वह सकुचा कर
बोला, मैं जपता एकाकी मंत्र—शिवोऽहम् !

समझ गया मैं! उसकी सौतेली माँ थी,
जो क्रोधभरी नागिन-सी फुफकारा करती थी!
कटा-कटा अनुभव करता वह . और मित्र भी,
पत्नी की मुट्ठी में, ताने कसते रहते!
उसे मूर्ख कह, बात बात में हँसी उडाते ।

(मैं क्या करता ? दशरथ ने भी स्वय राम को
वन भेजा जब, कुटिल विमाता के कहने पर।
ये तो साधारण जन थे, इनका अनजाने
क्रूर काम के वश मे होना स्वाभाविक था!)
बच्चे भी अवसर पाकर, भाई की पूजा
करते रहते—कभी लात घूँसो से भी।

वह हक्का बक्का, तंग कोठरी मे चुपके से
छिपकर मत्र साधता रहता! सभव, उसके
प डित जी परिचित थे उस दयनीय दशा से!
तभी उन्होने मंत्र उसे था दिया—शिवोऽहम्!
और बताया था, बेटा, शिव हो तुम। तुमको
अच्छा बनना है! तुम मन में दुखी न होना,
अशिव न बनना!

उस किशोर के मन मे गुरु के
वचन बैठ थे गए! और यह अच्छा भी था।
वह कुठाओं से पीड़ित होने के बदले
आत्म-नम्र बन, सबकी आज्ञा पालन करता!

मैं उसको उपहार भेजता रहा बराबर,—
लिखता रहा—तटस्थ रहो संप्रति निज स्थिति से !
घर का कलह किसी को नहीं सहायक होता !
तुम भावी जग के प्रतिनिधि हो ! पढ़-लिखकर तुम
भू-विकास ध्वज-वाहक होगे ! निज कष्टों से
सीख ग्रहण कर, तुम भू प्रति करुणार्द्र हृदय होना !
वह दिन दिन प्रगति कर रहा है ! भविष्य में
वह निश्चय, जन-भू-जीवन अभिभावक होगा !

प्रेम

अभी प्यार के योग्य नही बन पाई, धरती !
तुम्हें प्यार दूँ भी तो ऐसी नही मन स्थिति !
आधे मन का प्यार प्यार कहला सकता क्या ?
भय-संशय से घिरा अभी सित केन्द्र प्रीति का,
श्री संस्कृत हो पाया नही अविकसित नर-उर,—
निन्दा-कुत्सा सौतेले भाई-बहिनो-से
स्थायी रहने देते नहीं प्यार की संपद् !

संभवतः, आर्थिक-बौद्धिक विकास के पर ही
हृदय-कमल की ओर ध्यान जाए मानव का ;—
विकसित हो पाएगा तब स्वर्णिम सहस्रदल,
और हृदय की अमृत वृष्टि मे अवगाहन कर
पावन हो पाएँगे तन मन प्राण—धरा-रज !

तब संभव, अंगो की स्वर्गिक पवित्रता से
आकांक्षा की सौरभ उमडेगी दिङ्मादन,—

प्राणों के ज्योत्स्नातप में, शोभा-विस्मित नर
प्यार कर सकेगा अरूप-मंदिर स्त्री-तन को !
तब रति-चेष्टा भी जीवन-पावन पूजन बन
सहज प्रेरणा देगी आध्यात्मिक विकास को !

मनुज हृदय उन्मुक्त, अभय, संशय-भय विरहित
तन्मय हो पाएगा शोभा की समाधि में,—
तन मन प्राण बुद्धि आत्मा के ऐक्य में बँधा !
सौम्य सृजन-आनंद करेगा प्रेरित उर को,
आत्मा का प्रतिनिधि नर अकलुष हो पाएगा;
काम प्रेम बन जाएगा : सुंदरता अक्षत,
शील-सुभग विचरेगी भू-प्रांगण में प्रतिपग !—
यह भविष्य का सत्य—स्वप्न भी कवि के उर का !

अज्ञेय

व्यक्ति अगम अज्ञेय
न इसमें संशय किंचित्,
वह समाधि जीवित
कितने कृत्यों की अविदित !

किन भावों, स्वप्नों,
आकांक्षाओं से अगणित—
स्मृत विस्मृत—
वह होता रहा अजाने
जीवन-पथ पर प्रेरित—

नहीं जानता कोई उसके
अंतर का रहस्य चिर गोपन,
क्या बीती उस पर प्रतिक्षण,
किन घटनाओं से
आंदोलित नित रहा
त्रस्त उसका मन !

किसे बताए वह
निज सुख-दुख के संवेदन,
रहा उच्छ्वसित जिनसे
उसके उर का स्पंदन !
कैसी दुर्निवार अभिलाषा,
दुर्जय आशा
घोर निराशा
करती रही हृदय का निर्मम मंथन—
प्राणों में भर क्रंदन !
सहे मर्म ने गुह्य प्रीति-व्रण,
तीव्र घृणा के दंशन,
विजय पराजय
भय संशय का
रण क्षेत्र ही रहा
क्षुब्ध भव जीवन !

हिम-पर्वत-सा व्यक्ति
गहन उपचेतन सागर में अन्तर्हित,
अल्प ऊपरी जीवन ही से
प्रिय जन उसके परिचित !
वह वैभव सपन्न,—
जगत् अब देता उसको आदर,
नहीं जानता कोई
कैसे ओढ़ी उसने चादर !
किन्तु व्यर्थ जिज्ञासा—
गत से महत् अनागत निश्चय,
वही सत्य
जैसा भविष्य में नर बनता नि संशय !

आत्मनस्तु कामाय

औद्योगिक जीवन ने
निश्चय ही मानव मन
बहिर्भ्रांत कर दिया !
चक्र बन जगत् यंत्र का
भ्रमित आज नर !
भूल गया वह—
मनुज-जगत् का स्रष्टा
वह ही !
निखिल सृष्टि के अंतरतम
चैतन्य सूत्र से सित संयुक्त,—
विधाता भी
जग के भविष्य का !

देह क्षुधाओं से पीड़ित वह
जन समाज की सेवा में रत,
आवश्यकताओं के जग का
भारवाह भर,—
बना अविकसित भू-भागों में !

किंतु जहाँ
बाहर की आवश्यकताओं की
पूर्ति हो चुकी—
जो संपन्न देश कहलाते,
वहाँ आंतरिक क्षुधा जग रही
तृप्त मनुज में !
बुद्धि-धूम उठता मन में,—
वह अनुभव करता
मात्र श्रमिक,
जन-भू-सेवक ही नहीं मनुज !
वह उससे कहीं
महान् सत्य है !...
अपना स्वामी,
भू जीवन का भी स्वामी !...

वह खोज रहा अब
जग-जीवन का गूढ़ प्रयोजन,
निज आत्मा का स्मित रहस्य !

अब मात्र कर्म-रत रहना
उसको इष्ट नहीं है :
निज जीवन का ध्येय समझना
अभिप्रेत है !
आध्यात्मिक जिज्ञासा उठती
उसके उर में !
रोटी के हित अब न उसे
संघर्षण करना !

शास्त्रों, धर्मों की प्रतिध्वनियाँ
कहीं दूर गूँजा करतीं
धूमिल अंतर में !
वे क्या कहते ?—
उसे जानने की अभिलाषा
उठती मन में !

क्या उन सबका
नये रूप से संयोजन
संभव इस युग में ?—
जो बासी, पथराए
अंत. सत्यों के
अनगढ़ टुकड़े हैं ?

जब तक औद्योगिक यांत्रिक
जग के निर्मम शोषण से
मुक्त न होगा नर का
बहिर्भ्रान्त मन,—

कोई आशा नहीं,
मूल्य वह आँक सकेगा
अपना या जग के जीवन का !

आज बाह्य जीवन ही नहीं
यंत्र से शासित,
मानव का अंतर्जीवन भी
दमित, नियंत्रित
जड यंत्रों के दुष्प्रभाव से !
चिन्तन मनन,

हृदय संवेदन,
भाव, स्वप्न, अभिरुचि भी जन की
ढलती जाती
वहिर्भूत यांत्रिक ढाँचे में !—
कवि का काव्योन्मेष,
कला का छायांकन भी !

अतः उसे अब
क्षीण (सूक्ष्म)
आत्मा के स्वर को
सुनने और समझने के हित
निज अंतर से संभाषण कर,
तन्मय होना
उस विराट् भौद्भौम सत्य में,
जो उसकी
अंतर्मुख हृत्तंत्री में झंकृत !

वही विश्व संस्कृति का
नव आधार बनेगा !—
अतिक्रम कर
जड़ यंत्र-सभ्यता संघर्षण, नर
आत्म मुक्ति के
सौम्य सृजन आनंद में निरत
बाह्य जगत्
अंतः शोभा में ढाल सकेगा !—
देह-सत्य-मूपक पर
आरोही गणपति-सा !
आत्मानं वा अरे मैत्रेयि···

हृदय सत्य

अनघ-हृदय मंदिर होगा भावी मानव का,
उसे हृदय ही के प्रकाश में होना केंद्रित,
वही प्रेम-देवालय, अतिक्रम तर्क जाल कर
मानवता की प्रतिभा उर में करनी स्थापित !

ईश्वर भावी अभिव्यक्ति पाएगा उसमें,
निखिल देव, भव विधि विधान होंगे उर में लय,
वहिरंतर की श्री-सुषमा, आनंद ज्योति से
मंडित होंगे प्रभु, अरूप से वन स्वरूपमय !

भाव-भूमि से भावातीत रह.शिखरों तक
होगा ईश्वर का प्रसार चेतना गगन में,
हृदय कमल पर प्रीति चरण धर, प्राणशक्ति का
रूपांतर कर, विकसित होगा जीवन मन में !

राग द्वेष, भय संशय, इंद्रिय-तृष्णा का तम,
विषय-धूम अंत:किरणों से होंगे दीपित,
निखिल विरोधों से विमुक्त जीवन-विकास-क्रम
शिव से शिवतर पथ पर होगा, स्वतः संतुलित !

आत्म-ऐक्य जब विश्व-ऐक्य में होगा परिणत
सृजन शांति तब विचर सकेगी भू पर जीवित,
हृदय केंद्र ही में स्थित होकर मनुज चेतना
बौद्धिक-भेदों को कर पाएगी संयोजित !

अति यांत्रिकता से भू-नर की आत्मा मर्दित,
हृदय-सत्य का अब अनिवार्य गहन आराधन,
बहिर्भूत मानव मन जिससे हो अंतर्मुख,
आत्म नियंत्रित हो जन-भू-जीवन संवर्धन !

जागा वृत्र

नत मस्तक मैं पश्चिम की प्रतिभा के सम्मुख !—
थाह रहस्य निगूढ़ प्राकृतिक जग के जिसने
क्रूर गाँठ दी खोल अचेतन भूत-तत्त्व की !—
हृदय-ग्रन्थि खोली थी जैसे कभी पुरातन
भारत के द्रष्टा ऋषियों ने; ये पश्चिम के
वैज्ञानिक भी महामहिम सप्तर्षि-लोक के
ज्योतिर्मय नक्षत्र पुंज हैं ! अव्याख्येय
बाहरी विश्व का विश्लेपण कर सूक्ष्म, जिन्होंने
दृष्टि-अंध जड़ का आनन कर दीप्त, अगुंठित,
उद्घाटित कर दिए भेद पार्थिव-विधान के !
अणु विभक्त कर, सौंप मनुज को मूल शक्ति दी,
जिससे कल्पित, कूट-संघटित स्थूल वस्तु-जग !—
शुद्ध शक्ति ही जड पदार्थ,—यह निर्विवाद अब !

भूत-दैत्य की जाड्य शृंखला छिन्न हुई, लो,—
जागा वृत्र, सपंख पुनः पर्वताकार जड !
आज मनुज को अणु-दानव की शक्ति से महत्

मनुष्यत्व की शक्ति चाहिए—जीवन-सक्षम :
वश में रख जो मत्त-दैत्य को, भू-रचना में
शांति-नियोजित उसे कर सकें, जन मंगल हित !—
भौतिक आध्यात्मिक तत्वों को संयोजित कर !

भविष्योन्मुख

मुझे प्यार का छिलका भर देकर, कहती तुम
इतने से सतोप करूँ मैं!—मुझको स्वीकृत!
डरता मैं भी, कहीं मुझे शोभा-छाया मे
लिपटा कर तुम, छीन नहीं लो मुझको मेरी
प्राणों की कल्पना-सखी से,—जिसके साथ
बिताए मैंने जीवन-यौवन, जिसमें मूर्तित
भावी स्त्री,—जो करती वास हृदय मे मेरे!—
स्नेह प्राण, अपलक देखा करती मानव मुख,
खेला करती मन में, तन्मय निश्छल शिशु-सी,
भुला देह की सुधि-बुधि,—श्री साकार भावना!

तुम सद्भाव मुझे देती हो सहृदयतावश,
आदर करता हूँ मैं उसका!—ध्यान मोड निज,
मुग्ध देखता,—भावी की भावी की भावी
पीढी मेरे मनोदृगो के सम्मुख अद्भुत
शोभा में अवतरित हो रही मौन अगोचर!

रूपांतर हो गया बाह्य जग का हो सहसा,
और समापन अन्न वस्त्र गृह का संघर्षण !
बदल गए संबंध परिस्थितियों से जन के,
नया विश्व-संगठन जन्म ले चुका कभी का—
शिक्षित, संस्कृत, सौम्य, सभ्य मानवता भू पर
विचरण करती आत्म-मुक्त, निर्भीक-चित्त अब !—

भू-प्रांगण हो उठा स्वच्छ, सुंदर, दिक् कुसुमित,
बदल गया आमूल मनुज-जीवन निःसंशय,
देवों-से लगते मानव-शिशु शुचि-रुचि दीपित !
कौन कहेगा इन्हें मनुज ही के वंशज ये !
आँखों को विश्वास न होता, उन्हें चीन्हना
संभव क्या अब ? तारापथ ही जन-धरणी पर
स्वयं उतर आया हो मनुज मुखों से मंडित !
नव प्रकाश से उन्मेषित-से मनोयंत्र अब,
भाव-बोध, चिन्तना, मूल्य, आदर्श, वृत्तियाँ
स्वर्णप्रभ हो उठे चेतना के स्पर्शों से !

जल से अधिक पवन की संतानें लगते जन—
हर्षोत्फुल्ल, विषाद-भार से मुक्त, युक्त मन,
भाव-पंख प्रेरित, अंतर्मुख, आत्म-संतुलित !
एक सूक्ष्म सौन्दर्य-सुरभि-सी व्याप्त चतुर्दिक् !
शोणित में आनंद प्रवाहित, हृत्स्पंदन में
झंकृत सुर-संगीत स्वस्थ,—रस तन्मय मानव
नृत्तन में निरत !
प्रेम प्रतिष्ठित मनुज-धरा पर,

प्रेम प्रतिष्ठित मनुज-लोक मे—संशय भय से,
तम-भ्रम से उर रहित,—बँधे जन ऐक्य-मुक्ति में।
देह प्राण मन आत्मा संयोजित समग्र हो
स्वर्गिक पवित्रता का अनुभव करते भू पर!

नव शोणित

यदि अशांत उच्छृङ्खल जन-भू का यौवन अब,
इसमें उसका दोष नही है ! इसका कारण
उनमें है जो ह्रासोन्मुख गत संस्थाओं के
प्रतिनिधि बनकर, शासन करते नव यौवन पर !
दृष्टि नही जिनमे,—भविष्य को दिशा नहीं जो
दे सकते ! सयोगवशात् शासक बन बैठे
मनुज नियति के !
वे जिस अर्थहीन जीवन के
मृत प्रवाह को ढोते आए हैं, अब उसको
तरुणों पर भी लाद रहे, निज सुख-सुविधा हित !
कौन शासकों के अतिरिक्त सुखी भारत में ?

युग युग की जड़ रूढ़ि-रीतियों से संचालित,
रिक्त विचारों, आदर्शों की धूल झोंकते
वे भावी स्वप्नों से अपलक नवयुवकों की
दीप्त चमत्कृत आँखों मे ! उनको छलते है
बाह्य प्रदर्शन से सत्ता के ! जो भीतर से

कब की है खोखली हो चुकी मनुज-सत्य से !

नष्ट-भ्रष्ट करनी गत प्रेतों की प्रतिमाएँ,—
या फिर उनमें नयी साँस भर, नव आत्मा भर,
मानवीय है उन्हें बनाना,— (जो अति दुष्कर !)
वे भविष्य के जन-मन सिंहासन पर फिर से
समासीन हो सकें, महत् चैतन्य ज्योति से
नव्य प्रतिष्ठा, नव युग गरिमा प्राप्त कर सकें !

हृदय-सत्य से, सृजन प्रेरणा से वञ्चित,
गत परंपराएँ जीवन-संचालन करने में
अक्षम अब ! वे बालू के कण-सी चुभती हैं
मन की सूक्ष्म शिराओं में,—उर-शोणित-गति को
भाव-रुद्ध कर, उद्वेलित कर भू-यौवन को !
अतः उन्हें दीक्षा ले नव यौवन-पावक से
अपने को अनिवार्य बदलना,—या नव शोणित
छिन्न-भिन्न कर निखिल शृंखलाओं को निर्मम,
मुक्त करेगा जन-भविष्य-पथ ! नव गौरव से
मंडित मानव नयी दिशा की ओर बढ़ेगा,
भव विकास क्रम का प्रकाश-केतन वाहक बन !

यह सच है, अधिकांश तरुण अब दिशा भ्रांत हो
बहक गए हैं, राजनीतिकों के कर-कंदुक
बन कर ! भावुक प्रतिक्रियाओं, कुठाओं से
पीड़ित वे, लक्ष्य-च्युत युग को गति देने के
बदले, जनश्रम अर्जित संपद् नष्ट-भ्रष्ट कर,
कुत्सित, ढीठ हर्ष का अनुभव करते मन में !—
अनुशासित करना इनको दृढ़ वज्र-पाणि बन !

सृजन प्रक्रिया

पीला पतझर
मन को भाता !
वह अपने ही रीतेपन में,
सूनेपन में
मुझे सुहाता !
प्रिय विछोह का यह सूनापन,
स्मृतियों से
भर-भर आता मन !—
पूर्ण समर्पण का पागलपन,
मन ही मन यह
नीरव स्वर में
मर्मर भर कुछ गाता !
सृजनशील मन का सूनापन,
शून्य, सृजन ही का निःस्वर क्षण,
किन अनाम रंगों गंधों—
स्पर्शों से
जाने उर भर आता !

अमित प्रीति से भरा शून्य यह,
विद्युत् स्पर्श
हृदय को दुःसह,—
सृजन प्रक्रिया का अथाह
जीवन सागर
भीतर लहराता !
कोंपल नहीं,
प्रीति-भ्रू के व्रण,
छिपा अगोचर
धन्वी चेतन,—
महामरण का उर-मंथन कर
चिर अजेय
जीवन इठलाता !

भरत-नाट्यम्

भरत-नाट्य देखा कल संस्कृति मच पर यहाँ,
दोनों ही नर्तकियाँ नृत्य-कला कुशला थी !
लगता था, विद्युल् ही जैसे रंग विरंगे
सुभग क्षौम-वसनों की आभा में परिवानित
नृत्य निरत हो,—क्षिप्र अंग भंगिमा चमत्कृत
मुक्त यौवन-उल्लास चतुर्दिक् थी बखेरती !
चंद्र-चकित चंचल लहरों-सा कर-पद चालन
शोभा-मरीचियों की छाया करता वितरित,—
लीन हो गया रस तन्मय उर नाट्य सृष्टि में !

नत मस्तक हूँ मैं दक्षिण भारत के सम्मुख,
वह महान् है ! कलाभिरुचि रखता है अद्भुत !
अतल जलधि का-सा तारल्य हिलोरे लेता
उसकी प्रिय संगीत-मुग्धकर स्वर लहरी में,—
कंपित श्रुति-मूर्च्छना हृदय को करतीं तन्मय !

सत्य दृष्टि

ऐसा नही कि
मैं कीचड़ को नही जानता,
उसकी सत्ता नही मानता,—
या किल्विष में नही सना हूँ
मैं विशिष्ट ही व्यक्ति बना हूँ
ऐसा नहीं !—

गले गले तक मैं
कीचड़-जग मे डूबा हूँ
उससे मन ही मन ऊबा हूँ !

कर्दम-पलने ही में
मैंने आँखें खोली,
एक तरह से
हम हमजोली !

कर्दम आँगन ही में पला,
उसी में धीरे साँस खींच

मैं ढला !
इसीलिए पंकज कहलाता,
और अटूट हमारा नाता !

पर, मैंने
निज दृष्टि
ऊर्ध्वमुख रक्खी निश्चय
सूरज का मुख चीन्हा निर्भय !
जगा, तपा मैं,
बना अनामय !
अग्नि शिखा मैं,
उठा पंक से,
तिमिर अंक से—
मा का आँचल
श्री सुषमा गरिमा से भरने
जड़-भू को स्वर्गोन्मुख करने
चित् प्रकाश को वरने !

धरा-स्वर्ग का अग्रदूत मैं,
कर्दम ही का मर्त्य पूत मैं !

नही वास्तविकता यह,—
या जीवन यथार्थ यह—
कीचड़ ही कीचड़ है
भू-जीवन का प्रांगण,
कृमियो से संकुल घन !

सत्य-दृष्टि यह
कीचड़ को अतिक्रमक रख नुक्षण

मैं ढला !
इसीलिए पंकज कहलाता,
और अटूट हमारा नाता !

पर, मैंने
निज दृष्टि
ऊर्ध्वमुख रक्खी निश्चय
सूरज का मुख चीन्हा निर्भय !
जगा, तपा मैं,
बना अनामय !
अग्नि शिखा मैं,
उठा पंक से,
तिमिर अंक से—
मा का आँचल
श्री सुषमा गरिमा से भरने
जड़-भू को स्वर्गोन्मुख करने
चित् प्रकाश को वरने !

धरा-स्वर्ग का अग्रदूत मैं,
कर्दम ही का मर्त्य पूत मैं !

नही वास्तविकता यह,—
या जीवन यथार्थ यह—
कीचड़ ही कीचड़ है
भू-जीवन का प्रांगण,
कृमियो से संकुल घन !

सत्य-दृष्टि यह
कीचड़ को अतिक्रमक रज नुक्षण

जन धरणी को करना
सूर्योन्मुखी उन्नयन !

ज्योति-स्पर्श से अंतर्दीपित
कर्दम मानस में अंतर्हित
चित् सौन्दर्य सरोरुह करना
उसको उर-पलकों पर विकसित !
स्वर्ग मर्त्य एक ही
सत्य-मुद्रा के
मुख नित !

नया वृत्त

चिन्मय दर्पण निराकार निर्गुण तुम निश्चय,
नव युग आनन निज अंतर मे करतीं बिम्वित,
जो कि तुम्हारी अमर उपस्थिति से अभिप्रेरित
दिशा-काल में होता नव वैभव में विकसित !

नया सगुण, नव श्री शोभा आनंद बिम्ब वन,
जग जीवन में अभिव्यक्ति पाता अब प्रतिक्षण,
धन्य प्राज्ञजन, सार्थक उनका अर्पित जीवन,—
जिनके उर में खुला रश्मि-दीपित वातायन !

नया सांस्कृतिक वृत्त उदित हो रहा शनैः अब
संघर्षण-पलने मे लेता जन्म नया नर,
पास आ रहे जन, अतीत-सीमा अतिक्रम कर,
धूल धुंध, संशय भय से आच्छादित अंबर !

नये मूल्य को अब मानव-आत्मा की भू पर
नव जीवन-गरिमा मे होना प्राण प्ररोहित,
पूर्ण क्रांतियों की यह क्रांति : मनुज बहिरंतर
होता रूपांतरित,—प्राण-मन करते घोषित !

उतर रही ऊषा-सी तुम,—उर करता अनुभव,
अंतर्मन के अंतरिक्ष लगते आलोकित,
बैठा कुंडल मार निशा का घनीभूत तम
जड़ अतीत प्रहरी-सा जग को करने वंचित !

संघर्षण अनिवार्य, और संभव, युग-रण भी,
पथराया चैतन्य नष्ट होगा निःसंशय,
काले मेघों के पंखों में स्वर्ण-रेख भर
मुसकाता घन अंधकार में नव अरुणोदय !

संपृक्ति

प्रिय विछोह का शून्य
लीलता मुझको अनुक्षण,—
मैं निज तन मन प्राण
उसे कर चुका समर्पण !

चीर शून्य-नभ
प्रीति हृदय मे हुई अवतरित,
जिसके रस-स्पर्शो से अब
जीवन संरक्षित !

श्री शोभा सुख में असीम
लिपटा तन्मय मन
युग-स्वप्नो के पग धर
भू पर करता विचरण !

निश्चय,
पुरुप प्रकृति ही से
संपृक्त निरंतर,

खोज पुरुष को व्यर्थ
प्रकृति से उसे विलग कर !
वह दर्पण भर,
प्रकृति अनंत विभव छवि मंडित,
पुरुष स्थाणु,
जड़ पतझर वन,
यदि मातृ प्रकृति वैभव से वंचित !

ऋत पतझर

देह-यष्टि मे
अब रोमांच नहीं ही होता,
मनोलता में उगते
शोभा-विस्मय अंकुर
नित नव संवेदन हित आतुर !

पहिले मेरा मन भी तन था,
अब तन भी
हो गया दीप्त मन,
उच्च साध्य हित साधन !

देख रहा मै स्पष्ट
सत्य मै ही हूँ,
मृद् तन मोह आवरण,—
घेरे था मन को
इच्छाओं का जड वेष्टन !

आलोकित मेरे प्रकाश से

अब प्राणों का जीवन,—
मिटा काम-सम्मोहन !
अब न अनास्था, संशय, भय;
कटु राग-द्वेष का कारण !

पतझर यह,
दुर्धर ऋत पतझर,
घुमड़ रहे झंझा अंधड़;
जन-मन क्षितिजों पर,
कड़क रही विद्युत्‌
कँपता युग अंबर थर्‌थर्‌ !
अब विनष्ट होने को,
जड़ सभ्यता असंयत,
अध-प्राण भू-आवेशों से निर्दय !

निखर रहा भूमा-प्रांगण में
नव अरुणोदय,
ध्वस्त प्राण-तम,
ध्वस्त सभ्य-भ्रम,
जग जीवन
स्वर्णिम विकास गति क्रम में निश्चय !
मेरा तन मन में,
जीवन-मन
युग-आत्मा में तन्मय !

गीत भ्रमर

भ्रमर, कौन तुम गाते मन में
भर निःस्वर मधु गुंजन,
हँस उठते जग रोम,
हर्ष-झंकृत होते जीवन-क्षण !

कौन चेतना क्षेत्र ?—
जहाँ तुम चुपके करते विचरण,
किन भावों की पंखड़ियाँ,
पावक-मरद के मधुकण ?

कौन अनाम सुरभि वह
उर को सहसा ले जाती हर ?
तन मन विस्मृत,
रस-तन्मय हो उठता प्यासा अंतर !

वास बसाए बरबस उर मे—
नष्ट कर्म फल बंधन,—
भाव-बोध पंखों मे उड़-उड
मुग्ध गूँथते गायन !

मत पूछो, आनंद मधुरिमा के
खुल मौन दिगंतर
बरसाते सौंदर्य अमर—
रस-कला अरूप अगोचर !

कभी यही मुरली ध्वनि संभव
बजी कहीं मधुवन में—
भल गया सुधि-बुधि भू-यौवन
निभृत मिलन के क्षण में !

गूंज रहा तब से ही वह स्वर
तद्गत हृदय-श्रवण में,
स्वप्नों में खोया-खोया मन
रत रस-प्रीति-सृजन में !

मध्या के प्रति

प्रिय मध्ये,

यह राजहंस-सा पेशल यौवन
शोभा की उडान भर अनुक्षण
उन्मद प्राणों को सौरभ से
आकुल कर देता मन !

रति प्रीता तरुणी तुम सुदर,
कुम्हलाई कलिका-सी लगती
दीप्तिहीन श्लथ अंतर !

अभी हाय, स्त्री-पुरुषो की रति
रेगा-सी करती मंथर गति
जिस भू पर
कीडे-सी तुच्छ घिनौनी,—
(कुवडी पशु आकांक्षा बौनी !)
वह क्या स्त्री-नर योग्य ?
मनुज का भोग्य ?

नहीं,—
ज्यों चंद्र ज्वार सागर में उठता
रस विह्वल आवेग ज्वार
उन्मत्त स्फार,—
या गंध वनों में
उमड़ घुमड़ता
रज मरंद मद अंधड़,—
छिन्न - मस्तका रति
केवल कामना-नग्न धड़ !

तुम चाहो
कूदो प्राणों की सिन्धु-अग्नि में,
भावों की आनंद तरल
उच्छल लहरों पर
ऊब डूब कर जी भर,—
विस्मृति सुख मे वह-वह
बाहर निकल
निखर आओ
आकंठ स्नान कर !
यही नही सार्थकता
इस मानव जीवन की,—
पूर्णता भर लघु क्षण की !
प्राणों ही की शक्ति
ऊर्ध्वमुख बोधि-ज्योति बन
आत्मिक स्तर पर शुभ्र प्रीति बन,
श्रद्धा आस्था में ढलती घन !

तुम सुदरता की प्रतिनिधि हो
अनगढ़ भू पर,
हृदय सुरभि कर जन में वितरित
नर को स्वच्छ बनाओ सहचर !—

बने कूप-सुख सागर-विस्तृत !
विचरे भू पथ पर सौन्दर्य
सहज जन-पावन,
हृदय-गर्भ मे करो
विश्व - जीवन नव . धारण !

पवित्रता

कितनी पवित्र शशि-सूर्य किरण,
कितने पवित्र फूलों के मुख,
कितना पवित्र वन-पवन-स्पर्श,
मृदु गंध-गात्र छू देता सुख !

प्रातः उठते ही ज्योति-स्नात
पावन लगता भू का प्रांगण,
रोमांचित-से लगते तृण-तरु,
किरणों से चित्-चुंबित रजकण !

पावनता ही भूमा का गुण,
पावनता भू-जीवन माखन,
पावनता ही का स्वर्ण-गर्भ
जीवों का जग करता धारण !

सुंदरता क्या होती सुंदर
जो होती वह न कहीं पावन ?
सित प्रीति-स्पर्श ही से पवित्र

होते पंकजवत् जड चेतन !
स्त्री-सी पवित्र लगती जगती,
जी करता इसको अक भरूँ,
नव नव भावो के सुमनों से
तरुणी का साज-सिंगार करूँ !

अह, रोम-रोम से पावनता
फूटती,—चित्त ध्यानावस्थित,
तन्मयता की शुचि शय्या पर
मै अहरह रहता हूँ जागृत !

स्मित नील मुझे वेष्टित करके
धारण कर लेता मेरा तन,
अनुभूति गुह्य,—मैं बतलाऊँ
किसको ? विश्वास करेंगे जन ?
कृश पवित्रता का शुभ्र सूत्र
बाँधे नित तुमसे मेरा मन,
मुझको पवित्र रहना नखशिख,—
आत्मा पवित्रता की दर्पण !

उद्‌बोधन

जब तक न प्रकृति से जूझोगी
 होंगे न प्राण, प्रेयसि, संस्कृत,
चैतन्य अग्नि तुम,
 ढँके राख
युग-युग से संस्कारों की मृत !

छँट गया भावना-धूम,
 हृदय में हुआ
 स्वयं-भू सूर्योदय,
आलोक-रेख अब
 मन:क्षितिज,—
मिट जाएँगे सब भय संशय !
 यदि जूझ नहीं सकती निज से
 आस्था का पथ पकड़ो विस्तृत,
 वह जूझेगी मन के तम से
 ज्योत्स्ना-सा बरसा भावाऽमृत !

लंबा न लगेगा आस्था-पथ
कर सको हृदय-मन जो अर्पित,
अनजाने धुनती जाओगी,
आस्था-करतल में संरक्षित !

प्राणों का पावक अनिर्वाप्य,
दिग्-धूम किए उर आच्छादित,
युग राधे, सुख उत्सर्ग करो,
हो प्रीति-पंथ जन हित निर्मित !

इस काम-गरल को बनना ही
जीवन-विकास-हित प्रीति-अमृत,
पशु आरोही अंतःस्थ जीव
होगा नव मानव में विकसित !

दुख सुख, संशय विश्वास शनै.
वेदना चेतना बनती नव,
कुसुमित होतीं, बन काम-अग्नि
निर्धूम-ज्योति चेतस्-वैभव !

लिपटी न रहो चरणों ही से,
उठ, करो शिखर पर आरोहण,
चैतन्य-अद्रि यह दिग्-विराट्,
क्षितिजों पर मोहित वातायन !

तुम जागोगी, जागेगा जग,
सोया तुममें गिर मुँह के बल,
विचरो, भावी चैतन्य-शिखे,
चरणों पर हो नत भू-मंगल !

मानदंड

भूमा का विस्फोट हुआ
जब मेरे भीतर
काँप उठा ब्रह्मांड
प्रणत सम्मुख, भय थर्‌थर् !

अवगाहा मैंने
रहस्य का सागर-अंतर,
डूबा···डूबा···
लीन हुआ मैं,—
तन्मय भी जागरित निरंतर !

पट पर पट बहु खुले,
क्षितिज पर क्षितिज अगोचर,
पार किए मैंने उठ ऊपर
सूर्य - दिगंतर !

सुख दुख के जग,
भाव-बोध के स्वर्णिम अंबर,—
कर्म-जगत् के जटिल कुटिल पथ
फैले दुस्तर !

शेष रहा बस शून्य,
रिक्त बस शून्य···शून्य भर,
अंतरतम में फूटा तब
गंभीर गगन-स्वर :
मानव ही रे मानदंड
इस निखिल सृष्टि का,—
यही सत्य का चरम बोध,
साफल्य दृष्टि का !

हार्दिकता

तुम कितनी श्री-सुन्दर,
फूल-लता से भी कोमलतर,—
एक बार ही जान गया मैं
तुमको बाँहों में भर !

काम-भोग का युग यह
देह - वासना मथित,
तप्त प्राण-घन-तल्प,
तड़पती चपला कंपित !

मैं सुदरता-प्रेमी,
हार्दिकता का भोगी,
शील, मधुरिमा, शोभा,
संस्कृत रुचि का योगी !

तुम आती,
चाँदनी स्नेह की-सी छा जाती,
मधुर कल्पना

गौर भावना-सौरभ की
मृदु देह सँजोती !

खुल पड़ते सब बंधन,—
प्राणों के पुलिनो को
तुम असीम सौन्दर्य ज्वार में
सहज डुबाती !
खुलते दीप्त क्षितिज अंतर में,
स्वप्नों को देही देकर
तुम मूर्त बनाती !
तुम कितनी निश्छल हो,
शैल-प्रकृति-सी निर्मल—
सहज हृदय-गुण ही
नारी-शोभा का संबल !

वार्धक्य

सित वार्धक्य ?
शिखर यह भू-मानव जीवन का,
मुकुट नर मन का !

शैशव घुटनों के बल चल
जब खड़ा हो सका—
तब किशोर आँखों ने देखा :
रूप रंग का प्रिय जग
खींच रहा चंचल मन,
वहिर्जगत् सम्मोहन
सार्थक करता लोचन !

जिह्वा में रस,
कानों में भर क्रीड़ा कलरव,
मन को होता जाने
कैसा क्या कुछ अनुभव !
कौतूहल भर था
बाहर भीतर कौतूहल,

मन चंचल था,
दृग चंचल
दिशि-क्षण भी चचल !

यौवन आया,
आशा का संसार पा गया,
अभिलाषा मे ज्वार आ गया;—

खुली नवीन दिशाएँ,
जिज्ञासाएँ जागी,
चित्त बोध का,
हृदय हुआ रस का अनुरागी !

चिन्तन मंथित प्राण हुए
सागर-उद्वेलित,
सुख दुख के अगणित दशन
स्मृति पट पर अंकित !
असफलता से
हीन-भावना से संघर्षण,
आत्म बोध की विजय,
महत्त्वाकाक्षा के क्षण !

पग पग पर भूलें,
मृगजल की तृषा,
दिशा - भ्रम,

चलता रहा
धृष्ट यौवन का
अपना ही क्रम !

तड़िल्लेख शोभा
अपलक रखती हत लोचन,
बाँध लता ने दिया
अजाने ऊर्ध्व वृक्ष तन !

प्रौढ़ि-दृष्टि
सूची-सी आई
कला-कुशल-कर,—
मन के मनके वेध,
पिरो चित्-सूत्र में सुघर
गूँथी स्रक् उसने,—
अनुभूति गहन संचित कर,
मूल्यांकन फिर किया
मनुज जीवन का दुष्कर !

वरा जरा ने
स्वर्ण किरीट
बोध के सिर पर,

दीपित कर
अन्तर्मुख अंतर !
दी सपूर्ण दृष्टि जीवन की,
खोल ग्रंथियाँ तार्किक मन की !

देखा मन ने—
जगत् नही यह
मंदिर भास्वर !
जाग्रत् जीव,—
अगोचर ईश्वर
प्रतिपग गोचर !

सुधा स्रोत

एक मधुरता बहती अविदित
मेरे भीतर,
वह मादकता नही—
तरंगित सुधा सरोवर !
मुझको विस्मृत कर
अपने को रखती जाग्रत्,—
मैं अपनापन भूल
उसीका करता स्वागत !

कहाँ स्रोत इस मुग्ध मधुरिमा का ?
क्या ऊपर ?
या अंतरतम में ?—
कुछ मिलता मुझे न उत्तर !

मुझे डुबा कर
वह समस्त मन मे छा जाती,
उर में नि:स्वर,
रोओं मे रोमांचित गाती !

मेरे ही तन में धरती वह
भाव - सूक्ष्म तन,
पा विद्युत् सुख स्पर्श
नाच उठते शोणित कण !

उस श्री सुषमा का
न गिरा कर पाती वर्णन,—
शब्द डूब जाते
आनंद उदधि में निःस्वन !

ऐ अति गोपन,
तन्मय साक्षात्कार,
मूर्त क्षण !!
भू जीवन को
सतत बनाओ
पावन, चेतन !

रूप रंग सौरभ मरंद
होते परिवर्तित,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य पद्म
रहता अंतःस्थित !

नर,
मधु गंध मरंद सार चुन
छत्र बनाओ,
विश्व-सभ्यता स्थापित कर
जन-मंगल गाओ !
पाद पीठ सभ्यता :
धरे चिद्-ज्योति के चरण
उस पर मानव संस्कृति,—
करे धरा पर विचरण !

गढ़े विशद प्रासाद
सभ्यता का दिग् चुंबित,
बदल रहा इतिहास
काल करतल पर अंकित !

संस्कृति के रस-मूल
सत्य में नित्य, अगोचर,
मातृ चेतना की कन्या वह
अक्षय, भास्वर !

संवेदना

हो उठता अज्ञात स्पर्श से
रस मानस आनद तरंगित,
बाँध दिया तुमने प्राणो को
प्रीति-डोर में, प्रिये, अपरिमित !
मिट्टी की सौंधी सुगंध से
मौन मिल गई स्वर्गिक सौरभ,
धरती के रोएँ रोएँ से
झाँक रहा छाया अरूप नभ !

रज तन को तुमने आत्मा से
अधिक दिया अक्षय भव-गौरव,
ईश्वर को पूर्णता दे रही
तुम रच-रच अपित नव मानव !

अभिव्यक्त वाणी मे कैसे
करूँ भाव,—जो स्वप्न-अगोचर,
मूर्त जिन्हे जीवन में होना,
जो अब तक देवो के सहचर !

होना ही जानना,—सत्य यह,
धरा स्वर्ग मिल रहे परस्पर,
कला मूक, कंगाल शब्द,—
हो अघटनीय घटने को नि:स्वर !

असहनीय गुरु भार
वक्ष को बेध रहा
मेरे क्षण अनुक्षण,
विश्व-चेतना का करती
नव मनुज अहंता
फिर युग-मंथन !
मनुज-प्रकृति ईश्वर में,
ईश्वर को कर
मनुज-प्रकृति मे स्थापित
प्रकृति-योनि में -
सत्य-भ्रूण को
नव संस्कृति में
होना विकसित !

ऊर्ध्व-बोध को
अंतरतम में पैठ
उतरना अब जन-भू पर,
उतर रही चिति,
उतर रहा मन,—
चंद्र-पुलक प्राणो का सागर !

हो उठता आनंद-स्पर्श से
रस मानस नव छंद तरंगित,
बाँध दिया तुमने प्राणों को
प्रीति-डोर में, प्रिये, अपरिमित !

जरा

जरा डराती मुझे !
उसे मैं पास बिठाकर
देखा करता जी भर !

वह काँसों के केश उगाकर
सम्मुख आती,
शरद रेशमी मेघों में तब
खो जाता मेरा मन !
स्मृतियों के शत इंद्रधनुष
रँगते वय के क्षण !

वह नीरद मुसकाती,—
दृष्टि क्षीण,
कटि झुकी धनुष-सी,
निपट झुर्रियों की
दुहरी झालर बन जाती !

बाँह थाम,
मैं उसे बिठाता,
तन मन सहलाता,
समझाता—
तन में रह तुम
तन से हार गई तो क्या
अब मन से भी हारोगी ?
अंत:स्थित होकर क्या
मन को नहीं उबारोगी ?
क्या रज तन का यौवन ?
चल विद्युत् पावक कण,—
प्राणों की क्षण गर्जन !
मानव मन का धनी,
अमर उसकी आत्मा का यौवन !
उसमें केन्द्रित,
उसमें निज चिद् वास बसाओ,
मन को फिर से तरुण बनाओ !
मन ही सच्ची देह,
वही चिति गेह,—
देह की भीति भगाओ !

मन का नव तारुण्य
देह में होगा विकसित,
तन का पतझर होगा कुसुमित,—
अंगों में चित् शोणित झंकृत !
साथ तुम्हारा देंगे अवयव,
जानो निश्चित !

स्रोत चेतना, चित्त सरोवर,
रुद्ध न हो चित्-स्रोत सूक्ष्मतर—
देह-पुलिन नित जिससे उर्वर !

किया जरा-मन ने
फिर यौवन में प्रवेश नव,
हुआ हृदय को गोपन अनुभव,—

जरा देह की सीमा भर,
मन ऊपर उठकर
बँध सकता
असीम स्वर-संगति में—
वय-दुस्तर !

इंद्रियाँ

मेरी प्रिय इंद्रियो,
तुम्हें मैं अपना कहता,
और व्यर्थ के मद में बहता !

विश्व-प्रकृति की सेवक तुम,
जो मातृ-चेतना !—
उसके ध्येयों के प्रति सच्ची,
सतत समर्पित,
उससे ही अनुशासित !

सहती मा चिर प्रसव वेदना
नव भ्रूणों में,
जीव योनियों में
तुमको असंख्य रूपों में
कर नव निर्मित !

दुरुपयोग करता हूँ मैं
पर, नित्य तुम्हारा,

क्रीत दास निज तुम्हे मान कर,—
सरकारी अफसर का
चपरासी बेचारा
पीसा जाता ज्यों
घर की चक्की मे अक्सर !

अत्याचार कहाँ तक तुम सह सकतीं,
दुराचार में सनी
रात दिन थकती !
खो अपनी नमनीयता सकल,
क्लांति से विकल,
पाप मे फिसल,
ध्येय में विफल,—
आँखे होतीं अंधी,
श्रवण-पटह स्वर-बहरे,
बिंधते घाव हृदय में गहरे,—

धनु-सी टेढी रीढ,
पक्ष-पीड़ित जर्जर अँग,
लूले-लँगड़े हाथ-पाँव,
ढीले सब रँग-ढँग !

विश्व-प्रकृति का गूढ़ प्रयोजन
होता निष्फल,
हाड़-मांस का लोथ निबल
गिनता अंतिम पल !

दिव्य इंद्रियो,
विश्व-प्रकृति की
स्वर-संगति में बँधी निरंतर,
तुम क्षर अनुचर नहीं
मनुज की जीवन-सहचर !

मनुज चेतना
अभिव्यक्ति पाती तुममें नित,
सहज सौम्य सहयोग प्राप्त कर
होती विकसित !
तुम्हीं करण, उपकरण,
चेतना-सौध सतत
अवलंबित जिस पर !—

यदि ईंटें खो दें अनुशासन
क्या न भवन की भित्ति,
शिखर, छत
टूट, धराशायी सब
हो जाएँगे तत्क्षण ?

इसीलिए,
चाहिए मनुज को
युक्ताहार विहार करे,—
विश्राम दे तुम्हें,
श्रम-विराम का स्वर्ण संतुलन
जीवन - ताप हरे !

गुह्याकर्षण

खींच जगत् लेता मेरा मन !
रूप रंग गंधों के प्रिय क्षण
अपलक रखते मन के लोचन !—
उर में भर अनंत संवेदन !

मैं क्या दे सकता हूँ जग को ?
उससे ही चिर उपकृत
मेरा अर्पित जीवन !—
मोहे लेता जग मेरा मन !

यह विराट् ब्रह्मांड
भरा रे प्रेम से अमित,
जो असीम सौन्दर्य सृजन कर
रखता विस्मित !

वीणा हूँ मैं इसी प्रेम की
अहरह् झंकृत,
शोभा के सित स्पर्श
हृदय रखते रोमांचित !

कौन अँगुलियाँ छू
तन्मय कर देती अंतर ?
झर पड़ता आनंद
अमृत निर्झर-सा झर - झर !

मैं हूँ रिक्त,
जगत् फिर-फिर मुझको देता भर,
जगन्निवास प्रेम का ईश्वर,—
उर जिसका घर !

शील धन्या

दिखते नित
नारी शोभा के रूप अनगिनत,—
अधर भृकुटि दृग रंजित,—
पाटल दल सद्यः स्मित
मृदुल कपोलों पर विकसित !

मांसल स्तन मंडल
कंचुक शिखरों में पुंजित,
अवयव-संगति
मृदु तन तनिमा
शोभा लहरी-सी उन्मुक्त तरंगित !
—जन मन करती मोहित !

सौम्य शील - किरणों से मंडित
नवमी शशि-सा आनन
किन्तु सभी युग नारी रूपों को
अतिक्रम कर
सहज हृदय मे पाता आसन !

सुंदरता को बना
अमित सुंदरतर,
छूता वह प्राणों को, मन को,
सूक्ष्म मौन बरसा सम्मोहन !

सीता हो तुम
राधा के उर में स्थित
श्री जीवन कल्याणी,
शक्ति अनिर्वचनीय,
मुग्ध, श्रद्धांजलि देती वाणी !

शुभ्र श्वेत अनुभूति—
चंद्र किरणों में घन-सा
मज्जित रूप
अरूप शील रुचि संस्कृत
स्त्रीत्व-मधुर प्रकाश में,
सहज सुहाता
रसाकाश में !

देह-बोध आभास
नहीं छूता क्षण मन को,
शोभाओं की श्री-शोभा
सौन्दर्य-सार तुम—
सौम्य उपस्थिति से
सार्थक करती जीवन को !

जीवित करुणा
शत-सुषमा में-सी मूर्तित,
प्रीति-सुधा भू-पथ पर इच्छित
करतीं वितरित,—
लाज उषा, शोभा में गुंठित !

प्रलय-सृजन

नव वसंत से अधिक
ध्यान आकर्षित करता पतझर,
उससे नव सौन्दर्य निखरता
नयी चेतना के स्वर !

नाच नाच उठता मेरा मन
उड़ते पत्तों के सँग,
ताली देते तरुदल-करतल,
थिरक थिरक उठते अँग !

महानाश संगीत मुखर हो
झंकृत करता अंतर,
सौ मदिराओं की मादकता
लिये ध्वंस निज भीतर !

भीम भयंकरता
सर्पो-सी नाच रही
उद्धत फन,
मत्त प्रलय-शोभा को करता
मन निर्भय आलिंगन !

महामुक्ति का अनुभव होता
उर को अब अनजाने,
महाध्वंस के गाऊँगा
आनंद-उग्र मैं गाने !

कैसे संभव सृजन
विना इस मुक्ति-बोध से प्रेरित,
परम शून्य ही से निश्चय
भव-जीवन-धारा निःसृत !

लगा मृत्यु को अंक
धृष्ट पागल मन करता नर्तन,
उठती गिरती चकित-भृकुटि
द्रुत होते विश्व विवर्तन !

निखिल नग्न तन,
निखिल नग्न मन,
जग भी निखिल दिगंबर—
लाज नग्न
नव जीवन शोभा को
निज बाँहों में भर—

उड़ता भाव-
शत सुरधनु-छाया मंडित,
प्रलय-अप्सरा को कर
नव चैतन्य-बीज से गर्भित !

प्रलय सृजन, पतझर वसंत
मेरे ही युग पद निश्चित,
दोनो ही के गति-विनिमय से
भव विकास क्रम सर्जित !

अनुभूति

बिजली-सा तड़पा करता
  जो पावक-यौवन
मेरे प्राणों के मेघों मे
  व्याकुल प्रतिक्षण—

दीप्त कर दिया तुमने उसको
सौम्य ज्योति,
आनंद प्रीति, सौंदर्य - शिखा में—
  अमृत स्पर्श से पावन !

साधारण बौने गिरियों की
  तुलना मे ज्यों
हिम शिखरों की
 आभिजात्य दिग् गरिमा
  करती दृष्टि चमत्कृत,
  रवि-शशि-रश्मि किरीटित,—

वैसे ही चैतन्य लोक में
उठ भू-मन से
अंतर निर्भय
करता तन्मय विचरण !—

सृजन भूमि वह,
रंग गंध मधु
नव कलि कुसुमों में कर वितरण,
अधरों पर मँडरा
मैं चाँपा करता चुंबन,
भर मृदु गुंजन !

कितने कुसुमाकर बखेरता
भू-आँगन में—
शुभ्र शरद्
षड्ऋतुओं सँग कर नर्तन !

यह अंतर अनुभूति सत्य—
वैसे ही जैसे
मुग्ध युवक नव युवती को
बाँहों में बाँधे
हो अनन्य तन्मय
रस क्रीड़ा सुख में मादन !

मैं चैतन्य-प्रकाश मग्न
सौंदर्य नग्न
आनंद लोक में
राग द्वेष वाष्पों से विरहित

आरोहण करता
पग पग पर विस्मित,—
भावी जन मंगल हित !

वर्तमान जन-भू विकास गति क्रम में
निज वैज्ञानिक भ्रम मे
मनुज सभ्यता
उतर प्राणिशास्त्रीय भूमि पर
जीवन करती यापन !

फूल न सुंदर
गध-योनि रज करती धारण !
विहग मिथुन
प्रजनन प्रेरित ही करते गायन ?

सुदरता, आनंद प्रेम
हार्दिक गुण भास्वर,—
विश्व-चेतना के वर !
युग्माकर्षण गौण,
मुख्यत: मानव स्तर पर !

हृदय-कमल में स्थित हो नर को
सस्कृत बनना निश्चय,—
सौम्य, प्रबुद्ध, अनामय !
यही प्रकृति का ध्येय असशय !

भाव-क्रांति

कितने सुंदर लोग धरा पर
 उर हो उठता अर्पित,—
आह, अंतःसंतुलन नहीं अब
 जग जीवन में निश्चित !
कभी सोचता कारण जब
 मन हो उठता उद्वेलित,
क्रूर परिस्थिति पाटों में अब
 जन-भू जीवन मर्दित !

राग द्वेष के मेघ घुमड़ते,
 घोर गरजता प्रतिक्षण,
क्षुब्ध-सिन्धु-सा आंदोलित
 श्रेयस् कामी भू-जीवन !
अन्तः संयम संपन्न
 अविचल मनुष्यत्व में निश्चित,
जीवन की सर्वांग दृष्टि को
 खोता दिक्-भू विस्मृत !

नव संपद् का हो फिर से
जन मंगल हित नव वितरण,
धिक् उनको, जो लोक-दाय पर
बरबस करते शासन !

नया मनुज चाहिए आज,
जन-भू को नव संयोजन,
ध्वंस भ्रंश कर खर्व मूल्य सब
भाव-क्रांति हो नूतन !

छिन्न भिन्न हो जाति वर्ग,
धर्मों के जर्जर बंधन,
नव स्त्री-पुरुषों का समाज हो
मनुज-हृदय का दर्पण !

रूपांतरिता

वड़ी कठिनता से पा सका
तुम्हे जीवन मे
प्राण, तुम्हारे लिए रहा
व्याकुल प्रतिक्षण मैं !

ओ शोभा प्रतिमे,
यौवन ज्वाला मे वेष्टित,
सुलभ कभी हो सका न इच्छित,—
रहा देखता विस्मय-हत
अपलक, मोहित तन,
साहस नही हुआ
छू सकूँ तुम्हारा प्रिय धन !

जान न पाई तुम भी
भाव-प्रवण कवि का मन,—
बाधक दोनो ओर रहे
सामाजिक बंधन ।

अब मैं देख रहा
अपने से ऊपर उठकर—
तुम्हें कल्पना - अंतःपुर में
ले जा निःस्वर,—
प्राणों के दर्पण में पाया
मैंने बिम्बित
तुम्हें वास्तविकता से कहीं
अधिक सुंदर, अतिरंजित !

छिलके को मैं पा भी जाता
तो क्या उसको अपना पाता ?
कब तक रहता वह
कच्चे धागे का नाता !

कहीं रोकता रहा मुझे कोई
नव अंतर्मन से—
अधिक प्रबुद्ध कामना-क्षण से !
छाया हाथ न लगी,
पकड़ कर उसको तब मैं
क्या पाता, क्या खोता !...
अंगुलियाँ जल जातीं यदि
दुख मुझे न होता !

आज न जाने कहाँ खो गया
भ्रू-चपला का नर्तन,
उमड़ घुमड़ कर, गरज लरज कर
शांत हो गए प्राणों के घन !

खुली दिशाएँ मन में विस्तृत,
शारदीय चेतना सदृश
तुम खड़ी सामने
निःस्वर, सस्मित !

जीवन के सुख दुख से तापित
अश्रु-धौत तन-तनिमा छूता मैं
जो मन:प्रभा से वेष्टित,—
पा उज्ज्वल चैतन्य - स्पर्श
मन ही मन होता उपकृत !

प्रीति-मुक्ति में बाँध प्राण
जन-भू - मंगल से प्रेरित—
तुमको करता हृदय समर्पित
तुम जो विश्व-प्रकृति में मूर्तित !

पारमिता

फूलों की आँखें खोल धरा
अपलक देखती तुम्हारा मुख,
स्थिर रह पाता न समीर मत्त
अँटता न स्पर्श का उर में सुख !

खोजतीं अथक नदियाँ वन-वन
बज उठतीं लहरों की पायल,
चलती अदृश्य-सी तुम भू पर
हँस उठते रोमांचित तृणदल !

कँपता तारों में भाव-मुग्ध
निःस्वर अनंत का हृत्स्पंदन,
आता न समझ में चंद्र - ज्वाल
पागल समुद्र का उद्वेलन !

अनुभव कर गुह्य उपस्थिति का
अंतर सहसा होता तन्मय,
आकर्षण तुम क्षर जीवन की
जिसको न काल का भय संशय !

मन कभी देखता जब पीछे
लगता, जैसे बीता हो क्षण,
भावी, नव संभावना लिए,
खोलती अगोचर मुख-गुंठन !

शतियों के भर-भर कलश
काल तुमको करता रहता अर्पित,
तुमसे वियुक्त जो काल-ग्रास,
तुममें रत मृत्यु परे जीवित !

तुम रूपों की हो सूक्ष्म रूप,
भावों की भाव हृदय-गोचर,
ओ पारमिते, तुममें अक्षत
निज मूल-योनि में सचराचर !

विद्रोही यौवन

मचल रहा भू-यौवन !
मचल रहे नव तरुण,
मचलतीं तरुणी, कुंठित जीवन !

कौन बोध वह,
कौन भाव ?
जिसको न ग्रहण कर पाता
अब प्रवयस् मन !

जन धरणी की ज्वाला
जो टाँगों जघनों से उठकर
पैठ उदर में - सुलग रही
छा जन-अंतर में दुस्तर !

प्राणों की यह हाला
करती यौवन को मद-विस्मृत !
झूम रहे तन, झूम रहे मन,
झूम रहे दृग विस्मय - विस्तृत !

समझ सकेगी नही प्रौढ मति
युग मन का उद्वेलन,
हाला डोला, ज्वाला गिरि पर
कौन करेगा शासन !

उग्र क्रांति चाहिए आज
जीवन का हो रूपांतर,
यौवन-स्वप्नो से हो मुकुलित
मन का मुक्त दिगंतर !

अजगर-सा रेंगता काल श्लथ
गिर विघटन-घाटी मे—
रुका सुलगने को पतझर
मधु ज्वाल शैल-पाटी में !

रूढ़ि रीतियो मे पथराया
बंदी जन-भू जीवन,—
धरा-धैर्य का बाँध टूटता
आने को युग-प्लावन !

कारा, गत विधान जड कारा,
विद्रोही भू-यौवन,
तडक रही अब लौह शृंखला
निकट मुक्ति का शुभ क्षण !

प्राण-सुरा पी विश्व चेतना
सृजन नृत्य लय मे रत
पावक-पंखडियों,
हालाहल-मधु का करती स्वागत !

अंतरमयी

काम-स्पर्श अब बरसाता
सित सृजन-हर्ष का वैभव,
नये रूप में सुंदरता का
होता उर को अनुभव !

अब न सुमन पंखड़ियों
विहगों के पंखों में उड़कर
रस पुलकित करती वह मन को
रंग गंध कलरव भर !

अब सुंदरता निकट हृदय के—
निविड़ स्पर्श-सुख बन कर
तन्मय करती भाव-बोध को
अभिनव स्वर-संगति भर !

मधुर मनोमय देही बन वह
धरती रूप मनोहर,
प्राणों में जग स्वप्न-सृष्टि-सी,
दृष्टि-सिद्धि-सी सुंदर !

वीणा मेरा हृदय—उसे वह
सँजो मर्मस्पृह स्वर में
वरमानी संगीत - मूर्त
-सौंदर्य अमर अंतर में !

एक अनिर्वचनीय
पूर्णता की अनुभूति अगोचर
रोम रोम में झंकृत
जीवन के अभाव लेती हर !

ने कैसी स्वर-संगति में
बँध जाता तद्गत मन,
ाण स्वयं करने लगते
सौंदर्य अलौकिक सर्जन !

भावी मानव

भावी मानव किसे कहोगे ?
जो अपने से शासित,
जो न किसी का शासक, शोषक,—
मनुज-प्रीति प्रति अर्पित !

भू-जीवन निर्माण निरत नित,
सृजन-हर्ष से झंकृत,
नव जीवन-सौंदर्य स्वप्न से
आँखें अपलक विस्मित !

उद्घाटित कर सके
मनोभुवनों का जो रस-वैभव,
भव-जीवन-सौंदर्य खुले
उर-आँखों में नित अभिनव !

जीवन-पद्धति सरल,
उच्च हो काल-प्रबुद्ध प्रयोजन,
भू - जीवन - आदर्श वास्तविक,
भव समाज का हो जन !

स्वच्छ उर मुकुर,
सूक्ष्म बुद्धि हो नही अहं - पद - मर्दित,
साधारण नर,
निज महानता में हो चित्त न गुंठित !

लोक प्रेम साकार,
जगत्-पथ पर रहता हो सविनय,
शील-मूर्ति,—गिरि-सा ऊपर को
चलता हो दृढ निर्भय !

जूझ सभ्यता से
जन-भू-मन बना सकें जो संस्कृत,
हो आनद न ध्येय—
कर्म-रत उर में स्वयमपि सर्जित !

राग-द्वेप द्वंद्वों से ऊपर
स्थित चैतन्य-शिखर पर,
जन-भू-जीवन ही में विकसित
होता देखे ईश्वर !

आत्मोन्नति मे लीन,
नहीं पर विश्व-प्रीति से वंचित,
जग जीवन शिल्पी हो—
जन मंगल से भू-पथ कुसुमित !

अंतर्यौवन

जब तरु वन में आता पतझर

झर झर पड़ते पीले पत्ते

स्वर्णिम- छत्ते

हिम-समीर के बाहु-पाश में

सिहर सिहर कर !

वृद्ध ध्रुव ने

दृष्टि मंद पड़ जाती,

कँपता

नग्न अस्थि-वन-पंजर !

स्नायु-रेख, त्वक् शेष

प्रेत मधुऋतु का मूर्त, दिगंबर !

यह वृद्धावस्था भी पतझर !

झरते दुर्बल प्राणों के दल,

रेखाकृति तन रहा न मांसल,—

ऊष्मा-रहित श्वास

ठंडी चल,

अंग दुखाती, आलस मे ढल !—
एक विश्व ही होता जाता
अब दृग-ओझल !

यह जो भी हो,
तन को ही छूता जर्जर
प्रवयस् का पतझर ।
विश्व प्रकृति सहृदय
भर देती रिक्त पात्र फिर
नवल चेतना में मुकुलित कर
हृदय दिगंतर ।

जगती नयी कोपलें क्षण में,
भाव-बोध नव उगता मन मे,
अपने को अभिव्यक्त चेतना
करती अब अतर्जीवन मे !

रिक्त नही हो उठे प्राण मन,
मुक्त प्रहर्ष बरसता,—
उर-घन
नव विद्युत्-शोभा-लेखा से चेतन !
पूर्ण पूर्णतर होता जाता
मन का जीवन प्रतिक्षण !

मिले, धूल मे मिलें
जीर्ण गत मूल्य, विचार

तर्क रत्त चिंतन,—
झरें शीर्ण दल,—
मुक्त देह रज-तम से
हृदयासन पर पावन
हुआ प्रतिष्ठित नव
अंतर का अक्षय यौवन, !—
गाता उर भू-मंगल !

साध्य

सब जाते जब वीणा के स्वर
स्वतः मौन संगीत
फूटने लगता भीतर !
आकस्मिक भी श्वास-स्पर्श से
बज उठता आनंद तरंगित
अंतर थर् थर् !

ठीक कहा है,
हृदय-क्षेत्र यदि प्रस्तुत हो तो
बीज स्वयं ही पड़ जाएगा
उसमे आकर !
बहुत दूर तक स्वतः साधना
साध्य, सिद्धि है,—
दोनो ही में
रस-साधक हित कहीं न अंतर !

और, बात यह,
साधन साध्य मनुज के वश में,

सिद्धि भले ही हो केवल
भगवत् करुणा-वर !

किंतु सिद्धि क्या काम्य ?
सिद्धि सुख विस्मृत करके
सतत साध्य हित
तन्मय रहना ही श्रेयस्कर !
वैसे—
सिद्धि साध्य साधन सब
प्रभु-इच्छा पर निर्भर
ईश्वर ही को होना अब
दिङ्मूर्त धरा पर !
और नहीं गति,
भू जीवन निर्माण करे नर,
अंतर का दर्पण हो बाहर—
स्वर-संगति में बँधें उभय
अविनश्वर !

अनन्य तन्मया

मा, तुम मेरी
रक्त-शिराओं मे गाती हो,
सुनता मैं संगीत तुम्हारा
हृत्स्पंदन में,—

नयनो मे दिक् शोभा,
नासा मे सुगंध बन
प्राणो मे आनद छंद
नित बरसाती हो !

तुम मुझमें ही रहती,—
अनुभव होता प्रतिक्षण,
तुम्ही इंद्रियो की
बहुमुख गति करती धारण !

सचमुच, मै आवरण,
चेतना तुम रस पावन,
मेरे हृदय-कमल को
सिद्ध बनाए आसन !

स्मरण मुझे, जब मेरा मन
हो उठता तन्मय
मेरा तन भी चिद् घन
तन में हो जाता लय !

निर्झर देह में आता
विद्युल्लेखा यौवन,
उठ कदंब-गेंदों-से
चुभते मुग्धा के स्तन !

रोम रोम हो उठते
स्मृति आनंद तरंगित,
उर रहता सौंदर्य-मुग्ध,
रस ज्वाला वेष्टित !

ज्ञात रहस्य मुझे अब
क्यों एकाकी जीवन,—
निज करुणा से मुझे
वर लिया तुमने गोपन !

तभी कभी न हुआ
एकाकीपन का अनुभव,
सदा हो सका साहचर्य-सुख
तुमसे संभव !

तृण-सा भार लगा
वर्षों के वय-पर्वत का,
झेला हँस-हँस कर सँग
कटु संघर्ष जगत् का !

नही जानता, मा,
तुम कब कैसे आती हो,—
बन जीवन-प्रेरणा
नित्य नव मुसकाती हो !

जीवन और मन

अनुशासन हीनता ?
  इसे युग-धर्म कहूँ क्या ?
शासन करने वाले
  स्वयं नहीं अनुशासित,
पथरा गया चरित्र-हीन मन
  भ्रष्ट प्रौढ़ि का,
अक्षम, समझ न पाता
  तरुण अभीप्सा किंचित् !

जीवन का प्रतिनिधि यौवन,—
  उसको परिवर्तन
आज चाहिए
  रहन सहन, जीवन पद्धति में,
वह अधीर,
  झंझा-समुद्र-सा अंतर्मथित,
उसे नहीं विश्वास
  आत्म-श्लथ युग-मन गति में !

पावक गुण धर्मा जीवन,
शशि का प्रकाश मन,
जन-भू यौवन
ज्वाला-बाँहों में दिग्-वेष्टित !
मन द्रष्टावत्—
जन-भू गति विधि का संयोजक
कब ? जब जग-जीवन विकास-क्रम प्रति
वह अर्पित !

और नहीं, वह केवल
युग युग का मृत सचय,

जीवन को जग
मन को करना पड़ता जाग्रत्,
दूर हुआ युवकों का भ्रम
गत जड़ मन के प्रति
विद्रोही अब वह,—
भू-जीवन करता स्वागत !

छिन्न भिन्न करने
धरणी के लौह-पाश सब
मन शिराओं मे
शोणित करने संचारित,
(मन जीवन का चक्षु—
न जीवन से विराट् वह !)
नये प्रेरणा पावक से
अब जीवन प्रेरित !

आओ, घातों पर दृढ़ घात
करें जड़ मन पर,
मोह-पाश गत अभ्यासों के
हों शत खंडित !
अध शक्ति की कारा से
हो मुक्त चेतना,
रूपांतर हो जग का,
जीवन मन नव निर्मित !
अग्नि-ज्वार पर चढ़ कर आता
नव भू-यौवन,
हटो, हटो,—
निष्क्रिय मर्यादा-तट हों मज्जित !
आत्म-नग्न हो युग
धारण करता नव पल्लव,
सृजन-अश्व-पतझार धूलि से
जन-मुख शोभित !

जीवन-क्षेत्र

पहिले रहना सीखें लोग,
उठें जीवन - स्तर,
पीछे सोच-समझ
या जान सकेंगे निश्चय !

जन-भू जीवन-क्षेत्र,—
सृजन प्रिय, गुह्य बोधमय,
बुद्धि जानती
भव-स्थितियों से कर निज परिणय !

क्या विचारणा ?
जन-भू स्थितियों से संभाषण
मनश्चेतना का !
महत्त्व उसका न गहनतर
आत्मा के हित !
—आत्म-बोध ही जीवन-माध्यम,—
प्रेम-ज्योति आत्मा,
जग-जीवन जिस पर निर्भर !

जग जीवन से पृथक्
न आत्मा की सार्थकता,
क्योंकि प्रेम वह :
मातृ-प्रीति जो करती धारण
अमृत अंक में
जीवन-शिशु को पाल पोस कर
बोध-दुग्ध से :
करुणा बन करती संरक्षण !

आत्मा से न पृथक्
जग-जीवन की व्यापकता,
वह चिद् दर्पण;
जिसमें जग जीवन मुख विम्बित !
ईश्वर आत्मा की क्षमता—
जीवन में प्रसरित,
जो विकास क्रम में
ईश्वर-नर से संचालित !
मन से जीवन का विकास
सभव न कथंचित्
गणित-यंत्र वह,
हानि-लाभ का वहुविधि पंडित,
गुह्य प्रेरणा से
जीवन-आवेग समर्थित,
क्रांति-नदी वह,
स्फीत सिंधु, तट करती मज्जित !

आज विदा लेता मन से युग—
गत मुख जर्जर,

बुद्धि, शिखर पर चढ़,
होती जीवन-पद लुंठित ।
विना हानि के लाभ कहाँ ?
यह विश्व विपर्यय,—
उपचेतन उठ
गत चेतन को करता मर्दित !
आओ, आवेशों की
ज्वाला का केतन ले
पर्वत-बाधा पार करो,
भू के नव-यौवन,
यह शिव डमरु :
जगन्मंगल की सूचक दिग्-ध्वनि,
तांडव करता उर में
मत्त रुधिर का प्रति कण !

पौरुष

काम-भाव से
    बहुत अधिक चिपके रहते हम,
मुक्त चेतना के
    स्वतंत्र सुख से चिर वंचित;
काम तल्प मे
    क्षण मादन आनंद असंशय
किंतु गूढ़ अवसाद लिए
    उसका सुख किंचित् !

क्यों कि मनुज आत्मा का ध्येय
    महत्तर उससे.
काम पंक में
    लिपटी रह सकती न निरंतर!
बहिर्भ्रांत मन
    उन्मद भोगवाद मे पीड़ित.
भौतिकता वरदान न अब,
    अभिशाप भयंकर !

प्राणो की हँसमुख
गोरी सरसी मे डूबी
उठ पाती मति नही,
भँवर रति-रस का दुस्तर,
आरोहों पर चढ़ अतर के
देख न पाती
सुरधनु चिद् वैभव के
खुलते स्वर्ग-दिगतर !

अद्भुत सुख है
जग जीवन सागर तरने मे,
लहरो सँग उठ-गिर,
भँवरो के मुख मे पडकर,
हिल्लोलो से लडने,
ग्राहो से भिड़ने मे,
पौरुष प्रेमी
मनुज चेतना को किसका डर ?
विश्व-वारि मथित अब
अंवर-पथ छूने को,
उड़ता उड़न खटोले में-सा
जीवन सागर,
चंद्र ज्वार अश्वों पर चढ़ कर
देख रहा मन—
महत् दृश्य यह,
जन भू का होता रूपातर।

जन धरणी का आमंत्रण यह
स्वर्ग लोक को

जो उसके ही
        जघन-कूप में-सा अंतर्हित,—
बाहर निकले मनुज,
        कूप-मंडूक रहे मत,—
ठहरा है उसको
        जीवन आनंद अपरिमित !

सुंदरता का सम्मोहन रच
        आँख मिचौनी
खेल रहा वह
        भाव-वीथियों से आ-आकर
नव संस्कृति के स्वप्नों से
        अपलक जन-लोचन,
सृजन-श्रेम-सुख से
        अंतर्मुख भू नारी नर !

इतिहास भूमि

पूर्वग्रहों से गहन विदीर्ण धरा का अंतर,
पड़ी दरारें जन मानस कर्दम में दुस्तर !—
सूख गया चेतना स्रोत,—हम मध्ययुगी नर,
मुड मतों, प्रांतो, व्यूहो में बँटे भयंकर !—

घायल लघु उर दुखते तो दुखने दो क्षण भर
मध्य युगों की परत तोड़नी अब भू-मन की,
हमें नयी इतिहास-भूमि पर स्थापित करनी
राष्ट्र एकता : प्रतिनिधि हो जो युग-जीवन की।

अलम् नही सास्कृतिक ऐक्य—अंतर्जीवन-प्रद,
वाह्य वास्तविकता हमको करनी सयोजित,
अन्न प्राण मन के स्तर जन-भू के समृद्ध कर
वहिरंतर करना भू-जन-चैतन्य सगठित !

राजनीति औ' अर्थशास्त्र के बिना भले ही
जी ले जन,—राष्ट्रीय ऐक्य के बिना न संभव,
वह इन सबसे गहन, महत्तर,—जीवन-प्रतिमा,
अंग वाह्य-साधन जिसके, वह साध्य, वही भव!

जीवन का सिद्धांत — एकता में अनेकता,
स्थापित कर एकता विविधता में चिर वांछित,
(संरक्षित रख जीवन का वैचित्र्य) —मनुज ने
भू पर की संस्कृति, समाज, सभ्यता प्रतिष्ठित !

राष्ट्र ऐक्य के लिए वाह्य वल भले अपेक्षित,
पर अतर्बल कहीं अधिक आवश्यक निश्चय,
भाषा ही स्वर्णिम प्रतीक उस अंतर्बल की
सवल चेतना रज्जु — बाँधती हृदय असंशय !

प्रतिक्रिया क्षण-स्थापित स्वार्थो, द्वेष-वुद्धि की,—
जो विरोध के भूमिकंप से जन-मन स्पंदित,
राष्ट्र चेतना लाँघेगी भूधर-विरोध सव,
खंड-खंड युग-धरा पुनः होगी एकत्रित !

भाषा के रे मूल गहन अंतश्चेतन में,
भारत का अंतश्चेतन भव का अभिभावक,
स्वर्ण राष्ट्र वनना ही उसको,—भेद भाव की
राख हटेगी, जो कि ढँके आत्मा का पावक !

छाई अव आकाश-वेलि अंग्रेज़ी भाषा—
प्राणशक्ति भू-जीवी तरु की जिससे शोषित,
मुंड-भक्त अव देश, धरा-चेतना पराजित,
देह अन्न से, मन विदेश की मति से पोषित !

कहाँ रहा अस्तित्व हमारा? परान्न सेवी,
पर-विचार जीवी, निज भू-आत्मा से वंचित,

आंतर-क्रांति

वज्रादपि कठोर,
    फूलों-सा कोमल अतिशय,
यह मानव का हृदय!—
    आज निष्ठुर निःसंशय!

क्यों कि अनैतिक भव-विधान,
    स्वत्व क्रूर शक्ति-मद
रहा न जन-भू-जीवन के प्रति
    अब मंगलप्रद!

        बुद्धि विजित होती जब
            अंतस्तम निर्मम बन
        विश्व प्रगति की रश्मि
            स्वयं कर लेता धारण!
        भू-लुंठित होता द्रुत
            गत सद्वस्तु का खँडहर,
        उमड़ नया आवेग
            बुद्धि मन में अति दुस्तर

वन दावा-सा फैल
नाप जग के लेता हर !

सुख सुविधा, मे पले
स्वल्प नर समझ न पाते
क्यो निर्दय विप्लव-युग
भू-जीवन मे आते !

भौतिक-भव-आधार
लोकगण हित कर निर्मित
हृदय चेतना होगी
नव जीवन मे विकसित !

दया क्षमा औ' प्रेम
कर सके भू पर विचरण,
हो समाप्त अस्तित्व जनित
कुत्सित संघर्षण ! —

भाव क्रांति ही से सभव
नव युग परिवर्तन,
सारथि हृदय, बुद्धि अर्जुन बन
जीते युग-रण !

सावधान ! सत्ता दुर्योधन
लगा मनुज मुख
पट विलास रत, छीन न ले,
छल से भू-जन सुख !

संघर्षण अनिवार्य,
तोड़ने शृंखल दुष्कर,
अग्नि परीक्षा,—रक्त स्नान हित
हो जन तत्पर !

आज अहिंसा
स्थापित स्वार्थों का कर पोषण
हिंसा की पर्याय—
गरल - रस - कंचन - घट बन !

हृदय द्वार जब खुलते
होती शक्ति अवतरित,
मति-भय-संशय-मल सँग
धोती भू-कल्मष नित !

दशमुख रावण—
पर, सहस्रमुख रे जग जीवन,
विजय सत्य की
करती जन मंगल संवर्धन !

जीवन ईश्वर

ईश्वर के पीछे तुम
क्यों इतने पागल, मन,
जीवन स्तर पर
मुझे चाहिए ईश्वर दर्शन !

लाभ भला क्या
मन के आरोहों पर उड़कर
श्री सुषमा छायाओं पर कर
प्राण निछावर !

खोल बोध के अतरिक्ष
आनद रश्मि स्मित
सूक्ष्म चेतना मे लिपटा
अतर्मन दीपित !
आत्मा के स्तर पर
आलोक-उदधि मे मज्जित
मैं न चाहता
रहूँ भाव-तन्मय, समाधि स्थित !

लाभ हुआ क्या जीवन को ? —
वैसी ही भू-स्थिति,
बुद्धि उगल चिद् ऊर्ण
न सुलझा पाई अथ-इति !

श्री अरविन्द, रवीन्द्र —
सभी अंतर्नभचारी,
उन्हें नमन करता सविनय
कवि-मन संस्कारी !

जीवन धर्म न हो पाया
जन - भू - संयोजित,
विविध मनों में दीर्ण
हो सका मन न संगठित !

व्यक्ति आज संत्रस्त
निगल ले उसे संगठन,
मुक्ति-वाष्प ले छीन न
सामाजिक अनुशासन !

किन्तु व्यक्ति क्या मुक्त ?
विगत चेतना संघटन
शासित करता जन को,
मन उसका ही वाहन !

वह त्रिशंकु-सा
टँगा अधर में घूम रहा नित,

उसकी मौलिकता ?
गत पावक की स्फुलिंग मित ।

अन्तर्मूल्य मनुज का
तब होगा परिवर्तित
नव्य संगठित जीवन स्थितियाँ
हो जब विकसित—
नव संस्कृति प्रासाद गढ़ेगी
दिग् भू विस्तृत,
उपयोगी वैचित्र्य
जगत् का रख संरक्षित !

विश्व प्रगति के लिए
अत. हो पूर्ण सगठित
जीवन-कर्म मनुज को निज
करना निर्धारित !

अंतर्हिम-शिखर

हिम की शाश्वत नीरवता में
दबे गिरि शिखर
मुखर हो उठे मन में सहसा,—
देख रहा मैं
निखर उठा बोझिल वाष्पों का
धूम्र दिगंबर !

साँस स्तब्ध, दृग निर्निमेष,
क्षण समाधिस्थ-से,
बदल गया द्रुत
भाव-द्रवित हो तद्गत अंतर !—
लीन कुहासे हुए कहाँ
जाने सुख दुख के,
स्पर्श पवित्र
अलौकिक सुंदरता का पाकर !

सुंदरता,
अकलुष सुंदरता के चरणों पर

हृदय,
करो मेरा तन मन सर्वस्व निछावर !
भरे कला का, मनोज्ञता का
दाय अनश्वर,
सुदर ही शिव सत्य रूप धर
हो दिग् भास्वर !

मर्मर करते तरु
दिगत में आकुल स्वर भर,
गुह्य बोध से तरु-वन-अतर
कँपता थर् थर् !—
झुकती संध्या
गिरि घाटी ढालों मे निःस्वर,
घिरता धीरे धूमिल तमस—
विशाल छत्र-सा
खुलता शिखरो पर जगमग
अपलक तारावर !
प्रतिदिन का यह दृश्य !
चीर कर तम का सागर
स्फटिक तरंगो-से
स्वर्गिक शोभा मे स्तंभित
हिम किरीट के शिखर
वाप्प-पट से आच्छादित
अब भी करते
मन की आँखो को आकर्षित !
वे अंतर्जग में हो गोपन
रहस प्रतिष्ठित !

मानव जो कि विधाता की
सिरमौर सृष्टि वर,
निश्चय, इसका अंतर्जग
सच्चिदानंद के
श्री शोभा पावक से निर्मित,—
अभी अविकसित भू जीवन के
धूम्र वाष्प कण
इसे किए रहते घन परिवृत !

अंत शिखरों ही की झलक
मिली हो मन को
स्वर्ग विचुम्बी
हिमगिरि गरिमा में
दिङ् मंडित !—

इसीलिए, तन्मय उर
भूल गया था जग को
अपनी ही अंत शोभा में
हो अंतःस्थित !

विद्या विनम्रता

मनुज न हो प्रतिवद्ध
न्यस्त स्वार्थो प्रति किंचित्
विश्व प्रगति के प्रति
मानव अंतर हो अर्पित !

तभी पूर्वग्रह हीन
सर्वग्राही मानव मन
भू जीवन रचना हित
बन सकता सत्साधन !

लोक समस्याओं का
सम्यक् समाधान कर
मन समग्र-मति
सत्य ग्रहण कर सकता निर्भर !

आज कहाँ सद्विनय,
कहाँ वह आत्म समर्पण ?
भू पर केवल
निर्मम स्वार्थो का संघर्षण !

गर्वित-अहं, बौद्धिक-मद
धन-मद से नर दर्पित,
सत्य दृष्टि से ओझल,
अंतर अघ से मंथित !

महत् पर्वताकार ज्ञान भी
केवल रज-कण,
विनय नहीं यदि,
बोध-दर्प से यदि कुठित मन !

विनय समर्पण
अकलुष रखते उर का दर्पण,
ईश्वर का मुख
विवित्त मिलता जग में गोपन !

सृजन - कला - सौंदर्य
जगत् से आज बहिष्कृत
सूक्ष्म हृदय-ऐश्वर्य-शून्य
अब मनुज यंत्र मृत !

अजेय शक्ति

बोध-रश्मि ही नहीं,
शक्ति भी हो तुम अविजित,
हृदय प्राण मन,
अंग-अंग हो उठते झंकृत !
शक्ति-स्पर्श से
मन सहसा तन से हो बाहर
थिरक हर्ष से उठता,—
मैं उसको सहेज कर

किसी तरह बूढ़े अगों मे
ठूँस सकुचित
धारण करता सृजन-तड़ित्
अंतर में पुलकित !

शक्ति स्रोत तुम
सृष्टि मर्म मे मौन प्रवाहित,
विकसित करती जीवन,
भू-मगल संवर्धित !

अतिक्रम कर मन की सीमाएँ
जब तुम आती
नया क्षितिज ही
उर में उद्घाटित कर जाती !

लिपट सूक्ष्म सौंदर्य-चाँदनी में
जाता मन,
विद्युत्-घन आनंद
हृदय में करता नर्तन !

पीले पत्तों-से
मदसत् के क्षत पड़ते झर,
एक नील निरपेक्ष लोक में
जगता अंतर !

विनय द्रवित,
चरणों में नत होता उर अर्पित,
नये शक्ति पावक से दीपित
होता शोणित !

लगता, नहीं असत् से
जग को रंच मात्र भय,
तुम अजेय जीवनी-शक्ति,
मदसत् जिसमें लय !

मनुज सत्य

घेर लिया सौंदर्य-मेघ ने
उर का अंबर,
बाँध चपल आनंद-तड़ित्-
बाँहों में अंतर !

वह सहस्र सुरधनु बखेरता
बोध-रश्मि स्मित,
सुषमा ज्वाला में न्हाती
कल्पना चमत्कृत !

गिरि-बाला सी सरल
भावना आत्म समर्पण
करती उस सौंदर्य स्पर्श को
तन्मय निःस्वन !

मन का अनुभव : ये
शोभा-छाया-वीथी भर
भाव प्रवण उर को
ले जाती भुला निरंतर !

ओ तुम प्राणों के
पागल आनंद अनामय,
विलमा रह सकता मैं
तुममें नही असंशय, !
अग्रदूत मैं प्रीति-वह्नि का,—
रूप-हर्ष-कण
झर झर पड़ते सित स्फुलिंग-से
उससे प्रतिक्षण !

अमर प्रीति की हृदय-ज्योति में
स्वर्ग सृजन कर
निर्मित करने आया मै
भू-जीवन सुदर !

विलम न सकता मैं
श्री शोभा सम्मोहन में—
अविरत गति मैं, अविरत गति,—
रस सृजन प्रवण मैं !

मस्तक पर वर
दिव्य कला देवी को सादर
भू-मगल हित मैं
शिव चरणो पर न्योछावर !

मनुज-सत्य स्थापित कर
मनुज-प्रकृति की भू पर
मैं ईश्वर का भी
करने आया रूपांतर !

सहज साधना

प्राण, तुम्हारी माला की
ये गुरियाँ पावन
मुझे सिखातीं जीवन में
गोपन अनुशासन !

संख्याओं का प्रिय जप
बाँधे रहता मन को,
भटक न पाता मनःक्रिया रत
जीवन क्षण को !

ये माला की गुरियाँ
मन के ही सित मनके,
संख्याओं का जप
लय में रत छंद सृजन के !

ज्यों-ज्यों प्राणों की वीणा के
सधते लय-स्वर
वह तन्मय गायन
अनंत में समा निरंतर—

व्याप्त विश्व श्रवणों में
हो उठता श्रुति-मादन,
तड़िल्लहर का करती
मन की लहर अतिक्रमण !

आमंत्रित करता तुमको
मेरा तद्गत स्वर
रोम सिहर उठते,
स्पंदित हो उठता अंतर !—

क्या देखता मनोनयनों से
विस्मय-कातर—
ओ निःसीम ससीम से परे,
उर-तंत्री धर

तुम्ही सँजोती छंद
प्रीति का राग छेड़कर,
तुम्ही विश्व हो मुझमें—
सूक्ष्म, अभिन्न परात्पर !

हृदय बोध

एक दृष्टि से काम
प्रीति ही का रे अनुचर,
जीवन का संताप निखिल
मन से लेता हर ।

पड़ा क्रूर संघर्ष-भँवर में
अब जन-जीवन,
इसीलिए बढ़ रहा
काम-सुख का आराधन !

मुक्ति शिराओं को मन की
देता रति-सेवन,
चिंता ज्वाला दग्ध प्राण
करते रस-मज्जन ।
बहिर्भ्रांत भौतिक युग का
यह अभिशापित वर,
भोगवाद के पीछे पागल
आत्म-विजित नर ।

मानव-जग का श्रेय
न, पर, इससे सर्वाधित,
सम्यक् यह, क्षण-भोग
प्रीति सुख के हो आश्रित !

बिना प्रीति के काम,
नारकी कृत्य असंशय,
सूक्ष्म भावना इससे
विक्षत होती निश्चय !

हृदय-शिराओं के हित
पाशव-रति अति घातक,
मानवता की गरिमा हित भी
निश्चय पातक !

आज मनुज, मन देह प्राण भर,
हृदय न विकसित,
बुद्धि-भ्रांत, मान्यता-शून्य,
रुचि स्थूल, असंस्कृत !

हृदय-बोध ही में
इंद्रिय सम्यक् संचालित,
आत्म-विमुख नर-बुद्धि,
हृदय जो रुद्ध, अविकसित !

प्रीति पाश में बँधे
युवक युवती भू पथ पर

सृष्टि प्रगति, जन मगल हित
वन जीवन-सहचर !

सुदरता प्रतिनिधि स्त्री,
सुदरता हो आदृत,
नारी तन मदिर—
श्री सुषमा प्रतिमा स्थापित !

काम-कूप
वन सृजन-प्रेम का सागर विस्तृत
उठे मुक्त आत्मा के नभ मे
चद्र ज्वार स्मित !

स्वर्ग गवाक्ष खुले अंतर मे
मनोविभव के
नव भावोन्मेषो के,
नव जीवन गौरव के !

काम-भूमि ही की रे
प्रीति शिखर श्रेयोन्नत,
प्रीति-काम नव यौवन का
उर करता स्वागत !

चार्वाक

देहवाद के संभवत तुम रहे प्रचारक !—
कैसी थी वह देह ?—नहीं उससे परिचित मैं,—
क्या वह रज थी जरा मरण रुज् भय से विरहित ?
प्रिय चार्वाक, नहीं तुम वह कह पाए, संभव,
कहना था जो तुम्हें,—कभी ऐसा हो जाता ।

कृच्छ्र-साधना, संयम-तप, साधन से समधिक
साध्य बन गए थे तब, जड़, निषेध विधि पीड़ित,
रिक्त पारलौकिता ही रह गई ध्येय थी,—
शास्त्रों के आकाश-बेलि-से शब्द जाल मे
उलझे पंडित, मृत अमूर्त तर्कों के लिपटे
बोध-ऊर्ण में, तुम्हें चुनौती देते होंगे,
और तिलमिला कर तुम उससे, क्रुद्ध नाग-से,
फुला बुद्धि का उद्धत फन, फूत्कार मार कर,
आस्तिक-दर्शन को डँसने मे उलट गए द्रुत !

क्या प्रत्यक्ष न यह ? मानव पीढ़ी दर पीढ़ी
आता पृथ्वी पर—मानव ही उसको लाता ।—

मृत्यु-द्वार में कर प्रवेश रुज् जरा जीर्ण तन
नव यौवन से मंडित, नव चेतस् से भूपित,
विचरण करता जग में फिर—किस लक्ष्य के लिए ?
क्या यों ही दुहराती विश्व प्रकृति निज लीला ?
नहीं,—प्रयोजन निश्चित ही कुछ निहित गूढतम
विधि विधान में, सृष्टि सरणि में,—जो केवल अनुमान ही नहीं।

दीख रहा प्रत्यक्ष,—आदि उस वर्बर युग से
मनुज शनैः विकसित संस्कृत हो—और अनेकों
बाह्य-विघ्न-बाधा के दुर्गम शृंग लाँघ कर
मानस-संकट के वह सागर तैर धैर्य से,
साहस से,—वसुधा-कुटुंब की महत् कल्पना
मूर्तित करने को आतुर—बँध विश्व-ऐक्य में !

देह व्यक्ति की नहीं, कि ऋण के घृत से पोपित
वह इंद्रिय-मदिरा पी-पी कर बने अराजक !
वह केवल सामाजिक-तन की लघु प्रतीक भर !
व्यक्ति देह नश्वर, पर मानव अविनश्वर है
निज समाज-तन में,—शाश्वत निज विश्व देह में !

उसी अमर देही का, भव विकास गति क्रम में
ऋण के घृत से भी पालन करना समुचित है,—
यही चाहते थे कहना तुम, संभव, उनसे
जो कि पारलौकिक जन, विमुख जगत् जीवन से,
व्यक्ति मुक्ति के रिक्त जाल में फँसे हुए थे।—

इन अर्थों में मैं भी लोकायत हूँ अविदित !

जला दिया था तुम्हें द्वेष-हत विपक्षियों ने,
अजर तुम्हारी भस्म जाग नव युग जीवन में
स्वर्ण अंकुरित होगी ! मैं भी रूपवाद का
नम्र प्रचारक, सगुण उपासक, जीवन-प्रेमी !

विश्व रत

नव वसंत फिर आया !
साँस तोडता लैडी कुत्ता
मोटर मे दब,
राजमार्ग पर पडा,
रक्त से लथपथ, जर्जर !

बैसाखी पर चल
वह बुड्ढा भीख माँगता
द्वार द्वार पर फिर
डाँटे दुत्कारे सहता !

नग धडगा हाटो मे
घूमता बेधडक
वह पागल
जो इकलौता सुत
किसी सेठ का !

पनघट पर
हंगामा अब

पानी भरने का,—
चिल्लाती औरतें
मुहल्ले की, गाली बक !

कुडकी की धुडकी
देना है करजदार को
अलस्सुबह ही
घुस पठान खँडहर-से घर में !

अह, कच्ची चूड़ी टूटी
सिन्दूर लुट गया,
भरी जवानी
छिन्न लता-सी पड़ी धूल में !

ऐसे कितने दृश्यों को
बिसरा कुसुमाकर
मुसकाता क्षितिजों के
खुले झरोखों से आ !

वह उतना ही विवश
कि जितने करुण दृश्य ये,
उसको मुसकाना,
इनको मुरझाना आता !

मातृ प्रकृति ने सब को
किया प्रयोजन वितरित,
पिक गाता, मधुऋतु खिलती,
पतझर झरता नित !

सुख दुख का सम्मिश्रण जग
यह बहिर्दृष्टि भर,—
व्यक्ति नियति यह
विश्व चेतना से जो वंचित !

यह कठोर हो सत्य,
नाल से छिन्न-मूल हो
कुम्हलाएगा फूल !—
विश्व वेदना में तपा
व्यक्ति कभी दयनीय
नहीं होता,—यह निश्चय !
किंग लूथर, कैनेडी, गांधी
जीवित उदाहरण !

व्यक्ति-विश्व

एकत्रित कर पाता यदि
जीवन-सागर में
व्यक्ति महत्ताओं की
इन लघु-लघु बूँदों को—

यान पार लग सकते
विश्व समस्याओं के,
पुनः एक बन जाता
मनुज कुटुंब धरा पर—
आदि-मनुज-चिद्-घन का
जो बूँदों का सीकर !

व्यक्ति बिन्दु की मुक्त महत्ता
मुझको स्वीकृत—
पर, जैसा प्रचलित,
बूँदों से सिन्धु न बनता !

बिन्दु सिन्धु पहिले से
पृथक् अनादि सत्य हैं—

उसकी सृजन कला भी
रिक्त आत्म-रति द्योतक,
व्यर्थ, अमूर्त, वाष्पवत् !

चेतन मन से
ऊपर उठने के बदले वह
उपचेतन खोहों में छिप
कुंडली मार कर
पड़ा हुआ : धूमिल
छाया-वाष्पों में लिपटा,
निम्न प्राण - दरियों की
भाव-गंध पी मादन !

विश्व विवर्तन का युग !
विगत व्यक्ति क्षय होकर,
महत् प्रेरणा सृजन चेतना से लेकर
नव मूल्यों में श्री संयोजित,
बहिरंतर विकसित,
चिद् विराट् स्वर संगति में बँध
भव-संस्कृति की,
आत्म-मुक्त विचरेगा
विश्व-मिलन की भू पर !

मूर्त करुणा

देखा प्रातः मधुर स्वप्न में—
शोभे,
पावन चरण चूमने को मैं झुका
तुम्हारे कोमल,
मुझे स्मरण अब,
रँगे अलक्तक से थे गौर
तुम्हारे पदतल,—
लिपटी हो ज्यों उषा
लाज में डूबी उज्ज्वल !

छवि-तन्मय मन
विस्मृत रहा दिनों तक,
विस्मित आँखें अपलक !
दृष्टि नही उठ पाई
देखे
रूप-शिखा देही
श्री-शोभा मे लहराई,—
रही मौन सकुचाई !

अनदेखे ही देख सका उर
कोटि सूर्य प्रभ
देही की परछाँई !

द्रवित हो उठे
देह प्राण मन
अंतर्जीवन,—
अह, विस्मय क्षण !

लगा मुझे,
मैं बहता जाता,
बहता जाता हूँ सरिता-सा !
रोक नहीं पाता
तन्मयता,—
भाव स्तब्ध थी श्वासा !

लगा मुझे,
मैं फैल रहा हूँ,
फैल रहा हूँ
अब अग जग में,
घर मे, मग मे,
वन में, नग में.
दिशि में, नभ में,
बन अनंत अभिलाषा !

वाष्प बन गया हो अब अंतर,
उड़ता जाता था वह ऊपर
श्री शोभा का बादल बनकर

सुरधनुओं में लिपटा सुंदर !—
सूक्ष्म देह धर !

ऊपर उठकर, ऊपर उठकर
देखा मैंने
प्राण, तुम्हीं हो
सूर्य चंद्र तारा से दीपित
अमित दिगंतर !
भूमा भास्वर,
पूर्ण परात्पर !

अवचनीय अनुभूति !
स्नेहवश तुमने कातर
फूल-देह धर
मृदु बाँहों में
मुझे लिया भर !

अपने में कर
उर को केन्द्रित,
सम्मुख खोल
विश्व पट विस्तृत !

नाम-मोह

कहाँ हाय, वह शांत सौम्य जीवन का सुख अब
दुर्बलता जिसको गिनते आधुनिक सभ्य जन,
दाँव पेंच में पारंगत जो वही सफल नर,
सरल स्वभाव महान् मूर्खता का अब लक्षण !

आत्म प्रचार,—इसी पर मानव-जीवन निर्भर,
यही ख्याति, लोकप्रियता, सपद् का कारण,
दिग्ध्वनि यन्त्रों से बन नर राई का पर्वत
पिटा डुगडुगी, गाल बजा, करता विज्ञापन !

नाम-मोह से मुक्त,—अब न अविदित महापुरुष,—
अह, अनामता का सौन्दर्य तिरोहित भू पर,
दिशा-भ्रांत, उन्मत्त, दौड़ता ही जाता नर
स्वप्न बड़प्पन का दीखा हो उसे भयंकर !

स्वय मुखर वह, पर न कृतित्व बोलता उसका,
निज दोषों को छिपा—व्यक्त करता वह गोपन,—
उसे न निज अध्ययन, आत्म विश्लेषण ही का
मिलता समय,—अहंता का घेरे सम्मोहन !

उसे कार्य तत्परता, सर्जन तन्मयता या
नियम-निष्ठता में मिलता आनंद न किंचित्,
क्या असंगता का सुख, इससे रच न परिचित,
मात्र नाम का मोह उसे—थोथा, अतिरंजित !

विश्व विवर्तन की स्थिति यह भी : बहिर्भ्रांत मन
खोज न पाता निज महिमा-गरिमा का उद्‍गम,—
मानवीय भव-सत्य : मनुज को आत्म संतुलन
स्थापित करना · जन-भू-स्थितियों को कर अतिक्रम !

भीतर ही रे स्रोत सत्य का, चिदाकाश में,
बाहर के जीवन में करना जिसे प्रतिष्ठित,
जड से चालित चेतन—जीवन-हीन यत्र भर,
चेतन ही से संचालित जड़ होता विकसित !

आश्वासन

डरो न किंचित् !
जाति, प्रांत, गत संप्रदाय
यदि उठा रहे सिर,
कुछ भी स्थायी नहीं दीखता यदि—
सब अस्थिर,—

गत जन-भू जीवन-मन को
होना ही विघटित,
राष्ट्र एकता निश्चय
भू पर होगी स्थापित !

उपनिवेश-वासी हम
कब से मुंड विभाजित,
प्रतिक्रिया यह मध्ययुगी
भू-मन की कुत्सित !

भारतीय क्या नहीं,
प्रांत-जीवी भर ही जन ?
साध्य भुला कर
कभी सफल हो सकते साधन ?

मानवीय एकता
आज अनिवार्य असंशय,
मानव हृदय पुकार रहा
मानव को निर्भय !

नया ऐतिहासिक युग
आने को अब निश्चय,
मानव-भू पर होने को
नव युग अरुणोदय !

मात्र सांस्कृतिक ऐक्य
नहीं पर्याप्त धरा पर,
उसे ऐतिहासिक स्वरूप
देना लोकोत्तर !

सामूहिक-स्तर पर
जीवन-सुविधा हो निर्मित,
भौतिक-मंदिर में
आध्यात्मिक मूर्ति प्रतिष्ठित !

जन-भू का सार्थक वैविध्य
रहे संरक्षित—
महत् एकता-पट में हो
जीवन संयोजित !

खंड खंड हम प्रगति करें
यह फलप्रद किंचित्,
पर संपूर्ण देश भी
आगे बढ़े संगठित !

ह्रास-विकृति एकांगी सत्य—
प्रगति के पोषक,
जीवन-पतझर
नव वसंत-आगम उद्बोधक !

गंभीर प्रश्न

कौन हाय, बदले भू-आनन !
शिक्षित नही हमारे जनगण,
आत्म प्रबुद्ध न वे युग चेतन,
समझौता कर लेते बहु विधि
कटु जीवन स्थितियों से प्रतिक्षण !

युग युग से वे शोषित मर्दित,
निर्मम नियतिवाद से पीड़ित—
नही लोक-बल सजग संगठित,
उनके हित जग जीवन अविरत
विगत कर्मफल का संघर्षण !

उच्च वर्ग के मानव सस्कृत
निज स्थापित स्वार्थो हित शकित,
मुक्त न चित्त, पूर्णतः अधिकृत,—
आत्म लाभ के हित यह उनकी
प्रतिबद्धता बड़ी ही भीपण !

नेतागण पद-अर्जन में रत
पद-गौरव ही उनका भारत,
उन्हें चाहिए केवल जन-मत,
उनकी क्षमता कोरे भाषण—
भू-श्रम करने को असंख्य जन !

कहते, जग ही में परिवर्तन
निर्दय गति से करता विचरण,—
नहीं देश को भय का कारण,
कष्ट सहन ही उन्नति-साधन—
व्यर्थ आज उद्वेलित यौवन !

राजनीति के पंडित साधक
सबसे बड़े प्रगति के बाधक,—
वे निज निज दल के आराधक,
सभी मात्र पद-मद के लोभी
कौन करे जन कष्ट निवारण !

बौद्धिक भी गुट के प्रति अर्पित,
बुद्धि अहंता-अहि से दंशित,
फिर भी उनसे आशा निश्चित—
जीवन मंगल हित एकत्रित
सजग सँजोएँ जन-भू प्रांगण !

विद्या से सद्विनय प्राप्त कर
कृत संकल्प, मुक्त रख अंतर,
युग जीवन उद्घोष स्वस्थ भर
भू-जन को दें नया प्रबोधन,
युग द्रष्टा बौद्धिक, लेखकगण !

सत्य व्यथा

हृदय चाहता
    वंशी के स्वर छेड़ूँ मादन,
किन्तु गूँज अहि-सी
    उर डसती फैला विष फन !

चित्त बैठ जाता
    सौन्दर्य क्षितिज छू-छू कर,
धरा वेदना से
    मंथित हो उठता अंतर !

भाव क्षुब्ध मन
    करने लगता जीवन-चिन्तन,
गाने को आतुर,
    रह जाते स्तब्ध, सृजन क्षण !

हृदय-राग बँध जाता
    मौन व्यथा-अंचल में,

आज व्यथा-हत मेरा मन
नत रस भू-मन छिन,
विश्व वेदना में
मेरी हतश्री संकुल !

कविता मात्र नहीं प्रहर्ष,
रस वैभव पोषित,
मनुज-व्यथा उसमें
जीवन-गरिमा भरती नित !

वह अंतर-अनुभूति
सूक्ष्म भावों की दर्पण,
मुग्ध करुणा का बिम्ब,
ध्येय श्रेयस् संवर्धन !

अंतस्तप संघर्षण में
वह होती विकसित,

वैयक्तिक उद्‌गारों वश
रहती न उच्छ्वसित !

हृदय गहनताओं में डूब
करो आराधन,
कवि, गभीर कवि कर्म,
चाहिए पूर्ण समर्पण !

भाव स्रोत

अति चिन्तन ने घोंट दिया तुमने बोझिल मन,
कलुष रही भावना बंदिनी-सी विचार-भृत,
फेंको मन का बोझ, चहक फिर सके कल्पना,
स्पर्श ग्रहण कर सृजन-चेतना का अंतःस्मित !

विचर सके अंतर्जीवन-शोभा के नभ में,
सेंक सके स्वर्गिक क्षितिजों का स्वर्णिम-आतप,—
जड़ विचार चिन्तना धूम से घिरी चेतना
बद्ध परिधि में घूम-घूम रह जाती कँप-कँप !

चिन्तन, तर्क, विचार, कर्म—बंधन मन के हित,
उनसे उर अभिभूत न हो, सोचो तटस्थ रह,
मुक्त विहग-से प्राण उड़ सकें पंख मार सित
धरा-स्वर्ग के छोर गूँथ गीतों में अहरह !

हृदय ऊब जाता,—जब अंतर के प्रवाह के
रस-स्पर्शों से देह प्राण मन रहते वंचित,
बाहर के जग में दौड़े, हत काल-भार से,
भटका करती मति, बहिरंतर-संगति विरहित !

मध्य हमारे कोई आ न सके, जीवन में—
तन मन प्राण तुम्हे करता मैं तन्मय अर्पित,
विना तुम्हारे प्रीति-स्पर्श के, कौन वीर जो
अंत:स्थित रह सके जगत् जीवन से मर्दित !

उमड़ दृगों में आते आँसू मात्र स्मरण से
अकथनीय संघर्षण भोग चुका हृत अंतर,
पर, प्रेयसि, तुम हो—इस सुख दुख मृत्यु क्षेत्र में,
वोध मात्र ही से मन ने सब कुछ पाया भर !

युग बोध

अह, वह मध्य युगों का ईश्वर !
रिक्त निषेध पलायन का शव,
अस्थि शेष चित्-पंजर !

जन-भू जीवन के प्रति निर्मम
उर में पाल पारलौकिक भ्रम
निर्दय पाप-पुण्य पाटों में
रहा पीसता दुस्तर !

छील निखिल मन प्राणों के स्तर
ऊर्ध्व श्वास चढ शून्य गगन पर
प्रकृत सरित-गति के विरुद्ध
वह तिरता रहा निरंतर !

विधि-विधान के गढ़ जड़ पर्वत
सिखा अंध · मत, क्रूर नियम व्रत,
स्वर्ग नरक में रहा भ्रमाता
नर प्रेतों को दे वर !

भू जीवन शोभा से विरहित,
व्यक्ति मुक्ति ही परम ध्येय नित,
भक्ति-अंध नर रहा रगड़ता
मस्तक चरणों पर धर !

प्राणो के वैभव से वंचित
मुझे न स्वीकृत ईश्वर किंचित्,
इंद्र मरुतगण से ही रक्षित
जयी हुआ असुरों पर !

भू जीवन इच्छा से गर्भित
प्रभु की महिमा हो दिग्-विकसित,
जन भू जीवन मे हो मूर्तित,—
जग से पृथक् न ईश्वर !

आओ, देखें भावी का मुख,
उर अतीत प्रति रहे न उन्मुख,—
नव विकास केतन वाहक बन
खोले नये दिगंतर !

गीतों का स्रोत

गीत गगन से झरते गोपन !
वे न धरा पर चलते अब
प्रतिरोध जहाँ कटु चलता प्रतिक्षण !

व्यक्ति आत्म-रक्षा हित चिंतित,
कला-जगत् कुंठा से पीड़ित,
समय कहाँ, जीवन-शोभा को
मनुज हृदय कर सके समर्पण !

आवेशों से जन संचालित,
कूटनीति, संशय, भय पालित,
राग द्वेष, स्पर्धा कुत्सा का
रण क्षेत्र अब जन-भू प्रांगण !

मनुज, हृदय-मूल्यों से वंचित,
मुक्त, सभ्यता से पद-मर्दित,
यांत्रिक ही बनता जाता,
संदेह नहीं, अब मानव जीवन !

परिवर्तन चलता युग-भू पर,
सहृदयता-संपद् अब दूभर,
श्रद्धा आस्था ऊपर-ऊपर,
जड़ यथार्थ ही बना जनार्दन !

अब भी बहिर्जगत् कर मज्जित
कहीं गूढ़ अंतर से प्रेरित
श्री शोभा आनंद मधुरिमा
भर देती नव जीवन प्लावन !

नयी चेतना के दिक्-सुदर,
खुल-खुल पड़ते मुक्त दिगंतर,
मनोगहन का तिमिर चीर कर
जगता हृत्तंत्री में गायन !

प्राणों की सरिता में बहकर
नयी भावना की मृद् उर्वर
भू-जीवन को चिद्-वैभव से
अभिषेकित कर देती तत्क्षण !
गीत गगन से झरते गोपन !

सौन्दर्य भैरवी

रुंड-मुंड नश्वर
जीवन-चेतना अनश्वर
सृजन-नृत्य कर रही
काल-शव पर
नव-पग धर !

अट्टहास करती वह,
कँपते दैन्य अमंगल,
मृत्यु तमस आलोकित
विद्युत् स्मिति से उज्ज्वल !

वह त्रिलोचना,—
भूत भविष्यत् वर्तमान तर
अभिव्यक्ति देती निज में
अभिनव को सुंदर !

कला - शेखरा,
भरती अमृत संजीवि सुधा
भू-मन में,

सित कपाल पात्री,
भरती नव रक्त
जगत् जीवन मे !

अपने मे लय, आत्म लीन,
आनंद चेतना अतिशय,
ज्योति रूपिणी,
पृथु ऐश्वर्य स्तनी,
स्नेहिनी, अनामय !

चिर अनत यौवना,
कामदा,
जग-जीवन-कल्याणी,
प्रणत नमन,
सौन्दर्य - भैरवी,
भाव-तन्मया वाणी !

पतझर गाता

पतझर आता
तरुवन मर्मर गाता,
झर झर पड़ते जर्जर पत्ते
तानें नभ में छाता !

विघटित होता जीर्ण मनोजग,
मद्यप-सी जन की मति डगमग,
ठोकर खाते बौद्धिक पग-पग,
मर्यादा से छूटा नाता !
पतझर आता
भव - वन चर्मर् गाता !

कौन बजाता डमरु गगन में,
परिवर्तन की भेरी रण मे ?
होती ध्वस्त सभ्यता क्षण मे,
सिर पर भय-संकट मँडराता !
पतझर आता
अंधड़ हर हर गाता !

नग्न मुहाता विश्व दिगंवर,
ताम्र धूलि से रंजित अंवर,
प्रलय-नृत्य-रत अंध ववंडर,
ताता थेई ताता !

अये, विलों से वाहर आओ,
लघु स्वार्थों में मत पथराओ,
मानवता की ध्वजा उड़ाओ,
अणु-दानव रण-शृंग वजाता !
पतझर आता,
नव युग स्वर में गाता !

मैंने जग को किया अनावृत
वह वहुशाखा-पंजर निश्चित,
उसको वहिरंतर संयोजित
वनना जन-भू स्वर्ग विधाता !
पतझर गाता !

बाह्य क्षितिज

विश्व क्षितिज पर घिरते अब घन !
भूधर ह्रों उड़ते अंबर में
पंख प्रलय के खोले भीषण !
सेना-सी बढ़ती सज धज कर,
भू-रज से मुँह ढाँपे अंबर,—
कुछ अनहोनी होने को क्या ?
सुनता मैं भू-उर की धड़कन !

लपक रही विद्युत् असि क्षण-क्षण,
रुद्र बलाहक भरते गर्जन,
हालाडोला-सा दिक्-कंपित
जन धरणी पर करता विचरण !

पथरा गया विगत जन-भू मन,
उसको होना फिर नव चेतन,
शांति, धैर्य, सद्भाव, स्थैर्य से
तिर सकता नर युग-संकट क्षण !

बाह्य प्रकृति से हो उद्दीपित
बुद्धि-भ्रांति से जन-मन पीड़ित,
नव समत्व सतुलन चाहिए
जो जन-भू-भय करे निवारण !

बदल गई भू-स्थितियाँ बाहर,
बदल सका पर मनुज न भीतर,
आवश्यक अब जन-मंगल हित,
सुख-सुविधाओं का नव वितरण !

क्षुधित, यत्र-शोषित भू जनगण,
क्षुधित, देह मन से भू यौवन,
नव भू जीवन की रचना कर
भोगें भू-सौन्दर्य लोक-मन !

जड विज्ञान मात्र पथ-साधन,
साध्य विश्व-श्रेयस् प्रति अर्पण,
भौतिक आध्यात्मिक संपद् का
भू पर होना नव संयोजन !

मुझे पूर्ण आस्था मानव पर,
सत्य न युग का अवर-डंबर,
नर विकास-प्रतिनिधि,—नव युग में
करना उसको सजग पदार्पण ।

ग़ज़ल

एक वेदना मिलती उर्दू के ग़ज़लों में—
गहन वेदना,—प्रेम वेदना जो उन-मादन !—
वही सुरा वास्तव में, जिसे पिलाता साक़ी !

कभी प्रेम से प्रेम-व्यथा का मूल्य अधिक
बढ़ जाता उनमें ! प्रेम पात्र से प्रेमी
बन जाता महत्वमय ! फिर भी उर को
भाव-विभोर बना, तन्मय कर देतीं ग़ज़लें !—

भूल वास्तविकता जीवन की, मन ऊपर उठ,
किसी और ही भाव-गगन में उड़ने लगता,
व्यापक, मोहक !—युक्त सहज ही हो जाता
अंतरतम लय में ! और गूढ़ से गूढ़ तत्व भी
अभिव्यंजित हो लौकिक भाव-व्यथा के स्वर में
अधिक निकट आ जाते मनुज-हृदय के निश्चय !
द्वार भावना के खुल पड़ते—अंग स्वयं ही
बन जाते वे जीवन के अनुभूत सत्य के !

इसीलिए मुझको गजलें भाती कविता से,—
उनका एक विचित्र जगत् है, जहाँ कल्पना
वास्तवता से अधिक सत्य लगती, वह यद्यपि
वास्तवता ही को लेकर ऊपर उठती है !
वहाँ बुद्धि निज घुटने देती टेक,—भावना
विजयी हो, छा जाती सूक्ष्म सुरा-सी मन में !

लगता, शायर वस्तु-जगत् का जीव नहीं है !—
वह या तो उससे महान्—हाँ, यही सही है !

हृदय मुक्ति

हृदय-द्वार खोलो हे—
भू-मन में बंदी नर,
गति विकास को दो,
जीवन का हो रूपांतर !

राग द्वेष की बेड़ी पहने
तुम जिन आदर्शों को
समझे स्वर्णिम गहने,—
लौह-शृंखला भर वे
मनोविकृति से निर्मित,
मानवीय स्तर पर
जीवन को उठना निश्चित !

प्रीति-रश्मि से
प्राण कामना को कर दीपित
जन मन को
नव श्री शोभा में होना विकसित !

जन-भू प्रतिनिधि मानव
आज खड़ा सिर के बल,
मन की सीमा उसे लाँघनी
जीवन में ढल !

मुक्त प्राण विचरे नारी
जन-भू प्रांगण पर,
भावी संतति वाहक वह,
जाग्रत् हो अंतर !
सस्कृत रुचि हो,
शील-सुरभि उर में हो निर्मल,
बहिर्मुक्ति हित
दृढ़ संयम-केन्द्रित अंतस्तल !

प्रेम - मुक्ति ही सभव
जग में स्त्री नर के हित,
प्रेम हीन जो मुक्ति
पतन-भय से वह पीड़ित !

खुले प्रीति के द्वार,
हृदय-मन हों आह्लादित,
अंत: शोभा से
दिगत हों जग के कुसुमित !

उर-कपाट खोलो हे,
नारी में बंदी नर,
भू जीवन को दो
आत्मा की गरिमा का वर !

प्रार्थना रूप

प्रसव वेदना सह जब जननी
हृदय-स्वप्न निज मूर्त बनाकर
स्तन्य दान दे उसे पालती,
पग पग नव शिशु पर न्योछावर—
नहीं प्रार्थना इससे सुंदर !

शीत ताप मे जूझ प्रकृति से
बहा स्वेद, भू-रज कर उर्वर,
शस्य श्यामला बना धरा को
जब भंडार कृपक देते भर—
नहीं प्रार्थना इससे शुभकर !

कलाकार कवि वर्ण-वर्ण को
भाव-तूलि मे रच सम्मोहन
जब अरूप को नया रूप दे
भरते कृति में जीवन - स्पंदन—
नहीं प्रार्थना इससे प्रियतर !

सत्य-निष्ठ, जन-भू प्रेमी जब
मानव जीवन के मंगल हित
कर देते उत्सर्ग प्राण निज
भू-रज को कर शोणित रंजित,—
नहीं प्रार्थना इससे बढ़कर !

चख-चख जीवन मधु रस प्रतिक्षण
विपुल मनोवैभव कर संचित,
जन-मधुकर अनुभूति द्रवित जब
करते भव मधु छत्र विनिर्मित—
नहीं प्रार्थना इससे शुचितर !

मानवीय जग

ध्यान-मौन, आत्मा के
अंबर में विचरण कर
जब मैं पुनः उतरता
जन-भू जीवन स्तर पर—

लगता कैसा नारकीय
जीवन भू-मानव
बिता रहा ! उसको न ज्ञात
निज आत्मिक गौरव !

राग द्वेष में सना,
काम-लिप्सा से मर्दित
जाति वर्ण वर्गों
लघु कुल मानों में खंडित—

निज खद्योत अहंता की
झिलमिल पर दर्पित
वह जीवन के रण-क्षेत्र में
आत्म-पराजित !

सूख गया रस-स्रोत
प्रेरणा-स्रोत हृदय में,
सृजन-हर्ष से वंचित,
लिपटा भय-संशय में—

मृत्यु अनास्था दुख के
फन से दंशित प्रतिक्षण
वहिर्वास्तविकता का
शंकित करता पूजन !

प्राणों के विद्युत् स्पर्शों से
काम-दीप्त तन,
अंध भोग के गर्तों में
डूबा उसका मन !

दैन्य, विषमता, अति तृष्णा से
जीवन जर्जर,
बनता जाता नरक
धरा-प्रांगण जन-दुस्तर !

कहाँ आज वह
आदर्शों के प्रति आकर्षण ?
विद्या-दुग्ध विनय,
संस्कृत रुचि का संयोजन ?

सहृदयता, स्वाभाविकता से
सुरभित जीवन ?—

आज सहजता-शून्य हृदय
कृत्रिमता-पाहन !

पुनः चेतना शिखरों पर
कर प्रणतारोहण,
अंतःश्री शोभा प्रहर्ष में
कर अवगाहन—

निर्मित करना मानवीय जग
नर को नूतन,
निज अक्षय अंतर्वैभव का
कर अन्वेपण !

निग्रह

दृष्टि चाहिए,
सृष्टि के लिए दृष्टि चाहिए !
अनगिनती मंजरियों से
लद रहीं डालियाँ,
बौरा उठे तरुण रसाल
भावोष्ण स्पर्श पा
नव वसंत का !

ज्ञात नहीं
निश्चेतन आवेशों से मंथित
वन्य प्रकृति को—
वन की वानस्पत्य प्रजा को—
आँधी हहराती रहती नित
दारुण निर्मम !
मौन क्रूर आकाश दीखता,
स्तब्ध दिशाएँ,
शत सहस्र शिशु-बौर

धराशायी होते द्रुम !—
साँस तोड़ तपनी भू-रज पर !

वन पशुओं-से
रौंदा करते मृदु वक्षों को
कुटिल काल के चरण,
दया जो नहीं जानते
और क्षमा न कभी कर सकते !

प्रकृति अंध है !—
ठीक कहा है सांख्यकार ने !
शक्तिमत्त वह,
दृष्टि न उसके पास बोध की !

जग जननी, निःसीम यौवना
वह निःसंशय,—
जंगल उसने उगा दिए घन
जन-धरणी पर,
अक्षय रस की
स्नेह-वृष्टि कर !

मानव
जो विकास ध्वज वाहक,
उपवन में परिणत करना
उसको जन-वन को !

जहाँ रूप रस, रंग गंध हो,
मलय पवन का प्रीति स्पर्श हो,

पिक कूजन
मधुलिह गुंजन,
जग जीवन मंगल मधु संचय हो !

मानवीय कर
उसे सँजोना जन-भू प्रांगण !
रोक थाम कर अंध प्रकृति की,
स्वस्थ संतुलित गति दे अति को,
काट छाँट करनी उसको,
झखाड़ झाड़ की
खर कंटक की बाढ़ रोक कर !

सृजन-कला संयम ही की
सौन्दर्य-नींव पर
युग्म-प्रीति का
जन-मंगल का
स्वर्ग बसाया जा सकता नित !

यही दृष्टि चाहिए सृष्टि को ।

समर्पण

भूल स्वयं को
जग को करने लगा प्यार जब,
जान सका तब,

कितना दिव्‌ सुंदर जग जीवन,
कितने प्यारे जगती के जन,
विविध स्वभावों, रुचियों,
स्थितियों के - वे दर्पण !

हृदय रुद्ध रह सका न
सरसी-सा कूलों में
लिपटा-अनुभव-शून्य
अहंता की भूलों में,—

वह वह चला सरित-सा
सागर संगम हित बन
अमित समर्पण !

खेला शत जीवन लहरों से
सूर्य चंद्र चुंबित अधरों से—
ऊब-डूब कर
तिरता रहा
अतल अकूल बन,
खोकर उसने
सहज पा लिया हो अपनापन !

प्यार, प्यार था दिशा काल पट,
प्यार, डूबने का भय संकट,—
प्यार, मृत्यु के पार नया तट,
प्यार मात्र प्रिय सखा सनातन !

उसको करने लगा प्यार जब
जान सका तब
यंत्र उसी के
देह प्राण मन !

आत्म-बोध

प्रथम विजय उल्लास
जग रहा मेरे भीतर,
जीवन का मुख
आज और भी लगता सुंदर !

बँधा बँधा जाने मन
कैसा करता अनुभव,—
धूम मेघ-सा छाया रहता,
मन ही मन में सब कुछ सहता,
सभी बुद्धि की सिद्धि
अंत में बनती विफल पराभव !

आज हुआ उन्मेष अचानक
दृष्टि रही विस्मय से अपलक,—
छाया-पट-सा हुआ अनावृत
शोभा का मुख स्वयं अगुंठित,—

देख सका मैं अपने को
    अपनी इच्छा से वेष्टित !

सुंदर था इच्छा का आनन,
मैंने मुख पर आँका चुंबन,—
वह मेरी थी,
मैं अब उसका न था,
खुला चिर स्वर्णिम बंधन !

मुक्त अंक में लिया तुरत भर
मैंने उस तन्वी को सुंदर,
और भूल मैं गया उसे फिर
उसका गुह्य रहस्य समझ कर !

झर झर
    पीले पात गए झर,
केवल स्थाणु रहा
    चिद् भास्वर !
उर दिगंत फिर
    नव वसंत वैभव से
        सहज गया भर !

संस्कृति पीठ

भौतिक युग सभ्यता
मनुज के कटि प्रदेश तट पर स्थित,—
हृदय कमल पर होना उसको
ऋत ऐश्वर्य प्रतिष्ठित !

भारत वसुधे, निःसंशय
आधार करो दृढ़ निर्मित
नव भौतिकता का :
जन जीवन
प्राण रहे न बुभुक्षित !

जीवन की शोभा,
यौवन आकांक्षा हो भू-कुसुमित,
प्राण पीठ हो
आत्मा की गरिमा से
महिमा मंडित !

प्राणों के आवर्तो में
खो जाय नही जन-भू मन,
शील मनुज - संस्कृति का माखन,
मानव आत्मा का धन !
पाद-पीठ भौतिकता,
कटि-भूषण भर प्राणिक-जीवन,
स्वर्ग शिखर से भी उन्नत
मानव,—प्रकाश पावक कण !
विचरो भू पर,
सूँघो प्राणो की सौरभ
जो जीवन,—
संचित करो श्रेय—जीवन-मधु,
गहन भाव-संवेदन !

डूबो नही जगत् मे,
निज सँग उसे उठाओ ऊपर,
निर्मित करो धरा-पथ,
तुम भू पर ईश्वर-प्रतिनिधि नर !

भरत भूमि,
युग युग से जीवन
तुम्हें रहा भव - साधन,
भौतिकता की विश्व-पीठ पर
ज्योति-चरण धर चेतन
करो अवतरण !—
धरा धन्य हो !

पूरब पश्चिम, दिशि-क्षण
प्रीति ऐक्य में बँधें—
लोक-भू
    बने स्वर्ग-मुख दर्पण,—
मनुज
    सृजन सौन्दर्य, शांति सुख
    करें धरा पर वितरण !

युग पतझर

नव युग पतझर
मन को भाता !
विघटन ह्रास
धुंध वन - अधड़
यह अपने सँग लाता !

दुर्धर पतझर
जन को भाता !
मर्मर स्वर भर,
कवि विकास क्रम ज्ञाता
पतझर के गुण गाता !

ओ आँधी, ओ झंझा,
युग पतझर की श्वासा,
अब अधीर हो उठे प्राण मन,
अति असह्य लगता भू जीवन,

अंधकार - सी छाई
उर में घोर निराशा,—
पतझर की अहि - श्वासा !

हहरो तुम, घहरो तुम,
सिहर उठे दिङ्मंडल,
झरें जगत् जीवन के
रूढ़ि - जीर्ण पीले दल !

फूटें जन अंतर में
नव भावों की कोंपल
महामरण सँग खुल मेले
भावी भू -मंगल !

यह क्या, क्या कहता
उद्वेलित मानव अंतर—
मैं ही हूँ युग - पतझर
नव मधु का प्रिय सहचर !

प्रलय घुमड़ता क्रुद्ध—उदर में
युग विष था जो पिया
गरजता अब वह
पंचम स्वर में !

मैं ही हूँ, मैं ही शिव शंकर,
कवि प्रलयंकर—
डमरु नाद करता डिम डिम
अब नये सृजन का,
नव जीवन, नव मन का !

फूट रही मेरे रोओं से
संभावना असंख्य—
रंग गंधों में गुंफित
नये वसंतों ही-सी अगणित,
मनोदिगंतों में जो कुसुमित !

परिवर्तन मेरा ही प्रिय रथ,
विस्तृत करने आया हूँ मैं
भू जीवन पथ,
विकसित करने
लोक मनोरथ !
मैं संत्रस्त न मृत्यु त्रास से
ध्वंस नाश से—
पतझर बन कर
हर हर, झर झर
फिरता जग में मूर्त-अगोचर,
निज पर निर्भर !—
मैं ही जीवन-ईश्वर !

जीवन यात्री

मैं शाश्वत जीवन - यात्री, मन !
मृत्यु - द्वार कर पार निरंतर
अर्पित कर उसको
निज मृद् तन,—
मैं असीम से आँख मिचौनी खेल
पुनः करता अवरोहण !

प्राणों के यौवन की मदिरा
पी-पी कर उन्मद सुख-विस्मृत
तिग्म रूप - ज्वाला में लिपटा
जलता मैं आनंद उच्छ्वसित !

तिरता शोभा - जल अकूल में
रस-समुद्र मे डूब निरंतर,
रचता सुरधनु स्वप्न - सेतु स्मित
धरा स्वर्ग को बाँहों मे भर !

जरा :

वोधि - तारुण्य मुझे अव
अमृत पिलाता आत्म - तृप्तिकर,
अनगढ़ जन - भू जीवन - पथ के
निखिल शोक संताप पाप हर !

देख रहा अव
इच्छा पर आरूढ़
आत्म - द्रष्टा अंसग मन—
क्यों जन-भू - जीवन संघर्षण ?
क्या दुख भय संशय का कारण !

कमी नहीं कुछ भी मनुष्य में—
वह निर्माण करे भव-जीवन,
विश्व - वोध सँग
आत्म - वोध कर प्राप्त
करे निर्भय भू - विचरण !
नर अनंत का यात्री, रे मन !

अंधड़

उड़ जाएगी क्या भू ?
फू, फू !
उड़ जाएगी वन - भू ?

अंधड़ आया
धूल धुंध के रथ पर चढ़कर,
गिरि कंधों से कूद
रेणु - अश्वों पर बढ़ कर !

ढहते तृण तरु सिहर,
झर रहे पत्ते झर झर !
भरी धूल आँखों में, मुँह मे,
थू, थू !
कहाँ खो गई प्रिय भू !

सी सी सी सीटी बजती
बाँसों के वन में,

जाग रहा कैशोर उछाह
तड़ित्-सा मन में—

फर् फर् नाच रहे पीले दल
पड़ा थल भँवर,
भूँक रहा पागल कुत्ते-सा
दौड़ ववडर !
घिरी साँझ,
जुट स्यार चीखते
हू, हू !
आँखों से ओझल भू !

सिंह दहाड़ रहे,
वन अंधड़ बना चुनौती,
वात गरजती—
शक्ति सिंह की नहीं बपौती !

कूँ कूँ डर से रोते बंदर,
पक्षि-पोत गिर पड़ते थर् थर्,
छींक आ रही,—नासापुट में
छाई वन की वू-वू !
सौंधी गंध भरी भू !

चील काटती नभ में चक्कर
खोज नहीं पाती घर,
सब कुछ लिप-पुत गया
क्रांति आवेश भयंकर !

अब न पार्श्व मुग्ध चंद्र,
धूलि का बादल अंबर,—
साँझ जल रही धू-धू !
श्रीहत-सी लगती भू !

बाह्य दृश्य यह !—
डालों पर अँगड़ातीं कोंपल,
ध्वंस सृजन का दूत,—
शांत मन का कौतूहल !
झेल धूल-धन
खेल रहे लड़के रट डू-डू !
नग्न गहन को
सँजो रही कोयल रट कू-कू !
रंग खेलती अब भू !

परा

खोज रहा जीवन मुझमें सार्थकता,
देख रहा मैं जीवन की व्यापकता !—
सोच सोच मन थकता !

मुझमे मैं ही नही
विश्व भी रहता निश्चय
सिन्धु - बिन्दु मे
सिन्धु अकूल न संशय !

मैं सागर
सागर मेरे प्रति उपकृत,
क्यो कि परस्पर रस - गुंफित ही
रह सकते हम जीवित !

कौन परस्पर बाँधे
क्षर को अक्षर से,
क्षण को अनंत,

लघु जल कण की सागर से ?
पूछ रहा मैं प्रश्न मौन अंतर से !

उसी शक्ति की अमर खोज हित,
उसी मर्म के गूढ़ बोध हित—
वही चेतना मेरी
उन्मद नद-सी कल कल छल छल,
लाँघ पल विपल,
आत्म - रिक्त कर सकल
सकल अंतस्तल !

वही चेतना धरा व्योम में,
वही अहर्निशि सूर्य सोम में—
वही निरंतर रोम रोम में !

ज्यों सरिता की गति
अवसित होती सागर में,
तट - बंधन खुल जाते
घुल अकूल सागर में—

मैंने भी सोचा
तुमको कर पूर्ण समर्पण
मैं भी लय हो जाऊँ तत्क्षण,—
रहे न कार्य, न कारण !

पर, यह सागर संगम
केवल अर्ध - सत्य भर निर्मम !
युग युग में प्रचलित भ्रम !

हम तुम दोनों ही आवश्यक
दोनों के हित,
मन असीम - सीमा से हुआ
अचानक परिचित !
सीमा औ'र असीम उभय
अपने में सीमित !

ओ असीम सीमा की स्वामिनि,
अमर प्रीतिमयि, अंतर्यामिनि,
स्वयं पूर्ण तुम,
सार्थकता या व्यापकता से
परे परे नित,
अपने में स्थित !

मुक्त आत्म - उल्लास तुम्हारा करता सर्जन
स्वर्ग - मर्त्य का प्रतिक्षण !
तुम मुझको, जग को
अपने में करती धारण !
सार्थकता पाते तुम में ही
जन्म, मरण औ' जीवन !

व्यक्ति विश्व—
दोनों को तुम रखती चिर नूतन !—
मै विकास - ध्वज - वाहक
तिरता जगत् - जलधि निर्भय मन,
लिए हृदय में, प्रीति,
तुम्हारा अक्षय चित् - पावक कण !

कांसों के फूल

हम वन - काँसों के फूल, धूम - दल,
रिक्त वारि नि:स्वन बादल,
हममें न रूप रँग गंध रेणु,
हममें न सरस फलते ही फल !

हम धरती के वार्धक्य श्वेत,
झागों की झील, न जिसमें जल,
वन खीस काढ़ हँसता विपण्ण,—
हम ज्योत्स्ना के अंगों के मल !

मकड़ी के जालों - से ही हम
लिपटे रहते जग के वन में,
चिन्ता - पंजर - से रक्त - हीन
छाए बरबस जन - भू मन में !

वैसे तो जब हर घन घमंड
शशिमुखी शरद ऋतु मुसकाती
तब धरती उसके स्वागत में
काँसों के केतन फहराती !

सित शांति - ध्वजा हम, सौम्य प्रकृति,
जन नहीं महत्त्व समझ पाते,
जग इसीलिए तो रण - जर्जर,—
जन - भू - अभिभावक पछताते !

ज्यों शुभ्र रश्मि में सुरधनु की
रत्नच्छायाएँ अंतर्हित
त्यों भू जीवन के रास - रग
सब श्वेत शांति से आलिंगित !

हम स्वच्छ कॉस के तूल - फूल,
हम शांति प्रतीक, नहीं सशय,
जो आँक सकें जन शांति - मूल्य
जन - भू जीवन हो मगलमय !

तुम शुभ्र कपोत उड़ाओगे,
हम भू पर बिछ-बिछ जाएँगे,
जन साधारण हम नम्र कॉस
हम विश्व - शाति - से छाएँगे !

संबोधन

यौवन - प्रतिभे,
आओ, मन्त्र मिल
भू - जीवन निर्माण करें !
बहुत हुआ कुंठा भ्रम,
मृत्यु त्रास, संशय तम,
अंध अनास्था का क्रम,—
हम युग - ह्रास - समुद्र तरें !

मानवता का हम पर
ऋण निर्व्याज निरंतर,
बचें न अस्वीकृत कर,
निष्ठा से युग दाय भरें !
बँटे गुटों में अगणित
मूढ़ अहंता प्रेरित —
हम मृगजल यश के हित
शुष्क - बौद्ध - मरु में न मरें !

छंद - वेणु स्वर - खंडित,
काव्य मूल्य गढ़ इच्छित,
हम न भाव-रस वंचित
शशक श्रृंग मद में विचरें !

अर्थ - शून्य आडंबर
बिम्ब - प्रतीकों में भर !
कला कला के हित वर
हम न सृजन के खेत चरें !

खँट युग - संघर्षण में,
झाँक मर्म के व्रण में,
हम भू जीवन रण में
भूधर - पण के चरण धरें !

यह विकास कामी जग
शूलों फूलों का मग
शोणित - रंजित दृढ़ पग
पथ के बाधा विघ्न हरें !

शिव की बाँहों में भर
शोभा - गौर कलेवर,
अंक सत्य - शिशु को धर
सृजन - लक्ष्य से हम न टरें !

देश काल युग - बंधन
जाति वर्ग कर खंडन,
नव जीवन संयोजन
भरे, - झरें मृत - पत्र झरें !

अग्रदूत सर्जन के,
युग द्रष्टा जीवन के,
हम स्रष्टा भू - मन के,
ह्रास - नाश तम से न डरें !

नव युग प्रतिभे,
आओ ,
नव जन-भू - जीवन निर्माण करें !

कला दृष्टि

जो निगूढ़ अनुभूति - विषय रे
उसका क्या हो सकता उत्तर
मन के स्तर पर ?

मुखर न होकर
मौन रह सके
जो अंतर्मुख अंतर,
अघटित घटना घटे,
पटे उर - संशय दुस्तर !

गोचर गुह्य - अगोचर के
पाटो मे पिसकर
कुछ भी हाथ नही लगता
कवि - मन का अनुभव,—

सरल वनो,
सित आस्था स्पर्शित,

पूर्ण समर्पित करो
हृदय संचय, मति वैभव !

स्वयं बज उठेगी उर - तंत्री
सूक्ष्म अगोचर अंगुलि - स्पर्शों से
सुर - मादन,
धूपछाँह लिपि में होगी
तारापथ - अंतर्मन में कंपन !

स्वर - संगति में बँध जाएँगे
मन के सुख दुख
गायन बन जाएगा
निःस्वर जीवन क्रंदन !

वीणा वीणाकार
वेणु - संगीत एक ही,
हो विभक्त
सहता विभेद - मति के
उर दंशन,
मुक्त प्रेम ही स्रष्टा, सृष्टि,
सृजन क्रम अविरत,—

कला दृष्टि यह,
तन्मय तद्‌गत
सतत प्रेम में युक्त—
भोगना समग्रता में
जीवन मन को,—

पूर्ण सत्य के कर
बहिरंतर दर्शन !

सार्थकता

फिर अँगड़ाई लेता वसंत
खुलते नव स्वप्नों के दिगंत !

अंतर में पैठ रही बरबस
आकांक्षा - सौरभ दिङ्मादन;
अब गूँज उठे मधुपों के वन
गाता अंतर्मुख उर - यौवन !

दिशि दिशि जगती नव मधु मर्मर,
रोओं में सुख कँपता थर् थर्,
झर रहे परागों के बादल
भू आँगन मे भर स्वर्णिम झर !

लय लाज लालिमा मे ऊषा
खोलती क्षितिज के वातायन,
अग जग की सूक्ष्म शिराओं में
दौड़ता रक्त,—उच्छ्वसित पवन !

इस शोभा के जग में डूबा
उन्मन हो उठता मेरा मन,—
मेरा कुछ था खो गया कभी
उसका संकेत मिला गोपन !

चल पंख मार निज,
नील चीर
गाता जो मत्त विहग अधीर,
वह मेरे प्राणों का प्रतीक,—
स्वप्नाकुल साँसों का समीर !

जग जीवन में खो जाने में
सार्थकता लगती जीवन की,
जग में ही तुमको पाने की
चिर आकांक्षा मेरे मन की !

मैं अपने मन में एकाकी,—
तुमको ही बिठा हृदय भीतर
गृह मग वन में फिरता निर्भय
मांसल मधु हो, पंजर पतझर !

अब त्याग—अहंता स्वार्थ दर्प,
आनंद स्पर्श बहता निःस्वन,
तप,—रत न कामना सुख में रह,
मिलता नित शोभा - मुख चुंबन !

यह सच, आँसू ही से धुलकर
होता मानव का मुख पावन,
जीवन के जो साधना - नियम
उनके प्रति नत तन मन अर्पण !

चाँद की टोह

चंद्र नर : "मैं टोह चाँद की लाया हूँ,
नक्षत्र लोक से आया हूँ !

"कर पार नीलिमा के प्रसार
मुक्ता क्षितिजों में कर विहार,
मैं सुरधनुओं के सेतु लाँघ
तन्वंगी तड़ितों को निहार—
घन-कक्षों में विलमाया हूँ,
मैं चंद्र लोक से आया हूँ !"

एक स्वर : "कैसा, कैसा वह चंद्रानन,
उस विधुवदनी का सम्मोहन,—
कब से आकुल जन के लोचन,
देखते रहे क्या अपलक मन ?"

दूसरा स्वर : "कुछ कहते उसको पितृलोक,
कुछ मनसोजात भुवन अशोक,

कुछ सूर्य ज्योति का सौम्य मुकुर,—
मैं जिज्ञासा पाता न रोक !"

चंद्र नर : "मैं घूम घूम पछताया हूँ,
मैं चंद्र लोक से आया हूँ !—

"तब जिसे खोजते थे भीतर,
अब उसे ढूँढ़ते जन बाहर,
जिज्ञासा का कुछ अंत नहीं
मुझको कहने में रंच न डर !

"ये दोनों अंतर्बहिर्गमन
एकांगी खोजों के लक्षण;—
बहिरंतर में भर संयोजन
गढ़ना हमको मानव जीवन !

"ये सूर्य-चंद्र भू-सेवा हित,—
जन भू जीवन को कर विस्मृत
मैं चाँद पकड़ने को निकला
निज बाल-मोह पर हूँ लज्जित !

"यदि मानवीय जन-भू प्रांगण
बन सका न, रहे उपेक्षित जन,—
तो चंद्रलोक में बस कर भी
अणु अस्त्र बनाएगा हत मन !—

मैं चंद्र लोक से आया हूँ
भू हित संदेशा लाया हूँ !"

सृजन शून्य

सूनापन, सूनापन,—
विघटित होता युग - मन !
हृदय उल्लसित
देख नग्न पतझर का तरु-वन !

कँपता मुख से थर् थर्
वन - भू प्रातर - अंतर,
मिटते रोग - शोक, भय - संशय,
पीले पत्तों - से झर !
दृष्टि अंध करने को उड़ते
धूल - धुंध तम के घन !

सूनापन, सूनापन—
रोके रुक सकती क्या कोंपल ?
सृजन-हर्ष से वन - उर चंचल !
अभिव्यक्ति देती अपने को

विश्व चेतना प्रतिपल !
अँगड़ाई लेता रह रह कर,
उन्मद गंध समीरण !

रिक्त हो रहा क्या तरु कानन ?
उन्मन-से कुछ लगते दिशि क्षण,—
अथवा जन-भू प्रांगण में अब
भाव-बोध उगता नूतन ?
पूर्ण पूर्णतर होता जीवन
यह भव-सत्य चिरंतन !—
क्षितिजों से अब शोभा अभिनव
झाँक रही,—मन करता अनुभव,
गिरि, तरु-वन, गृह-मग में छाए
रस पावक के पल्लव !
स्वप्नों का सौन्दर्य बरसता,
कोयल करती कूजन !
सूनापन, सूनापन !

चित्र गीत

गीत तितलियों - से उड़ आते !
वर्ण - वर्ण के पंख मनोहर
उड़ते फूल - फूल पर नि:स्वर,
चंचल रंगों की फुहार-सी
दृग सम्मुख बरसाते,—
आँखो को भी भाते,
गीत मुक्त छंदों में आते !

अंग - भंगि भावों की कोमल,
भ्रू - निपात कल्पना के चपल,
ओस बिन्दुओं के अस्थिर पल,—
ये सचमुच बौद्धिक शिशु निश्छल,
मन ही मन तुतलाते,
गीत अर्थ - लय मे मँडराते !

कही फूल होते ये सुंदर
नासा में सौरभ जाती भर,
फल भी इनमें लगते सुदर—

भूजन जी भर गाते,
मधुकर छत्र बनाते,—
गीत प्रतीक बिम्ब बन आते !

मुक्त विहग ही होते द्रुत-जव
भू-नभ छोर बाँधता कलरव,—
साहस की निर्भय उड़ान भर
छूते उच्च दिगंतर संभव,—
कुहुक चहक ये गाते,
मोहक टेर लगाते,
मन की व्यथा भुलाते,
गीत भाव-रस-माते !

प्रेमाश्रु

प्राण, प्रेम के आँसू
ताराओं से अधिक जिएँगे,
सब निधियों से अधिक रहेंगे—
दया प्रेम के आँसू !

बरसाओ इनको,
बरसाओ जन मन भू पर,
निर्निमेष कमलों-से खिल कर,
प्राण-वारियों में हँस सुंदर—

ये मानव-मन को मोहेंगे,
जन-भू के दुख को ढोएँगे !

सरल, प्रेम के आँसू
नव भावों में विकसित
अंतर-वैभव से कर विस्मित,
अगणित इंद्रधनुष बिखरा
उर के दिगंत में सस्मित—

नव सुख - बीजों को बोएँगे,
ये मानव - मन को धोएँगे !

अनघ प्रीति के आँसू !
उर में बन नव आशा
नव जीवन अभिलाषा,
नव मानव परिभाषा
जन जन का अंतर टोहेंगे,
भेद - भाव मन का खोएँगे !

स्वच्छ स्नेह के आँसू !
आओ, इन पर करें निछावर
निखिल रत्न, मणि माणिक सत्वर,
ये हीं रवि - शशि - तारा भास्वर—

प्रेम - दीप्त मुख जन जोहेंगे,
निज विश्वास नहीं खोएँगे !

मनुज प्रेम के आँसू !
ताराओं से अधिक जिएँगे
यश वैभव से अधिक रहेंगे,
विश्व प्रेम के आँसू !

होटल का बैरा

तीस जून अब . मुझे विदा होना होटल से,
कल प्रयाग को मैं प्रातः प्रस्थान करूँगा !
सुहृद् प्रतीक्षा करते होंगे, और मुझे भी
उनकी याद सताती रहती !
होटल मे अब
फैल चुकी सूचना सुबह मेरे जाने की !
बैरा आज अधिक तत्परता से सेवा मे
व्यस्त दीखते . तरह - तरह यत्नों से मुझको
खुश करने मे लगे हुए है ! दाँत निकाले,
मधुर चापलूसी कर मेरी,—आपस मे सज्जनता की
तारीफ कर रहे और विदा बेला आने का
दुख भी दरसा रहे ! ...किन्तु यह नाटक भर है !
वे चाहते इनाम झटकना मुझसे गहरा,—
गड़ा जा रहा हूँ मन ही मन मै लज्जा से !

मुझे ज्ञात है, मै ही हूँ होटल का बैरा !
मैं भी उनकी तरह यही सब नाटक रचता
दाता को फुसलाने, ऐसी स्थिति में पड़कर !

क्यों कि साहबों की दुनिया यह ! वे क्या जाने
इससे भी कितने बदतर ढँग से अमीर बन
पैसा कमा रहे ! होटल में रह कर कुछ दिन
खूब शान-शौकत बघार कर—हुक्म चलाते
बैराओं पर,—जो नत-मस्तक उसे बजाते !
संभव, वे हमसे मनुष्यता में अच्छे हों !—
क्या मनुजों के योग्य कभी बन पाएगी भू ?

• •

मुद्रक . राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स, दिल्ली—६